

श्री शंकराचार्य का मायावाद

१८७

लेखक:

भीखन लाल आत्रेय

दर्शन प्रिन्टर्स

मुरादाबाद

१९६२



श्री शंकराचार्य का मायावाद

दण्डि स्वामी विमलानन्द सरस्वती

शिवाला
वाराणसी

लेखक:

भोखन लाल आत्रेय

दर्शन प्रिन्टर्स

मुरादाबाद

१९६२

मूल्य १ रुपया

प्रस्तावना

यह निबन्ध—‘श्री शंकराचार्य का मायावाद’—जनवरो १९२३ में, जब कि मैं एम. ए. कक्षा का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में विद्यार्थी था विश्वविद्यालय के श्री मधुसूदनानन्द शास्त्र वेदांत पुरस्कार के लिये लिखा गया था और पुरस्कार के लिये स्वीकृत हो गया था। इस की कुछ प्रतियां काशी हिन्दू विश्व विद्यालय ने उसी पुरस्कार दाता के दिये धन से प्रकाशित करा दी थीं। बहुत समय से इस की कोई प्रति प्राप्त नहीं हो रही थी और न इसके पुनः प्रकाशित होने की कोई आशा ही थी इस लिये इसका पुनः प्रकाशन कराने का प्रबंध किया गया है। दर्शन प्रिंटर्स का मैं इसके प्रकाशन के लिये आभारी हूँ।

इस निबंध को बिना किसी परिवर्तन के जैसा का तैसा प्रकाशित किया गया है।

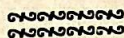
मधुसूदनानन्द पुरस्कार के दाता श्री स्वामी शंकरा नन्द जी मेरे अनेकानेक धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने मुझे विद्यार्थी अवस्था में ही इस निबंध के लिखने के लिये प्रोत्साहित किया।

१० सितम्बर, १९६२

भीखन लाल आत्रेय

आत्रेय निवास
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी
वाराणसी ५

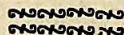
श्री शङ्कराचार्य का मायावाद



‘ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः’

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
मायावाद क्या है ?	१
ब्रह्मसूत्र में मायावाद है अथवा नहीं ?	५
उपनिषदों में मायावाद है अथवा नहीं ?	१२
मायावाद की उत्पत्ति	२५
मायावाद की शाखायें	३२
आक्षेप और उनका उत्तर	३७
युक्ति और मायावाद	४७
उपसंहार	५५



श्री गुरुदेव की आज्ञासे

संस्कृत-विभाग

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

श्री गुरुदेव की आज्ञासे

ओ३म्

“श्री शङ्कराचार्य का मायावाद”



“ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्म वनापरः”

‘ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है और कुछ नहीं।’ इस सिद्धान्त का नाम ही मायावाद है। श्री शंकराचार्य इस वाद के सबसे बड़े प्रतिपादक हुये हैं। श्री शंकराचार्य ने कोई स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त प्रचार करने का दावा नहीं किया वरन् उन्होंने उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख कर यह दिखलाया है कि उपनिषदों का तथा वादरायण (ब्रह्मसूत्रकार) का परम सिद्धान्त यही है। संक्षेपतः तो शंकर का यही सिद्धान्त है यदि हम इस सिद्धान्त पर अधिक जानना चाहें तो ब्रह्मसूत्र पर श्री शंकराचार्य का भाष्य पढ़ना होगा। मायावाद के प्रधान सिद्धान्त “ब्रह्मसूत्र” के सू० १।१।५; १।४।६; ६।४।३; ३।१।६, २।१।२८; २।२।१३; २।१।चतुर्थ अधि-करण ८।१।१४; ३।२।२; ३।२।५, ३।३।५०; इत्यादि के भाष्य मिलेंगे। ब्रह्मसूत्र के ऊपर शांकरभाष्य को पढ़ कर हम को जो मायावाद के विचार उसमें मिलते हैं उनको हम नीचे लिखते हैं ॥

(१)

जो कुछ है वह सब एक और अद्वितीय ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म अखण्ड, एकरस, शुद्ध, स्वयंज्योतिः चैतन्य है। चेतनता एवं ज्ञान ब्रह्म के गुण नहीं हैं प्रत्युत वह ज्ञान स्वरूप चिन्मात्र है।

ब्रह्म ज्ञाता नहीं है वरन् शुद्ध ज्ञान रूप ही है ब्रह्म सब गुणों से परे है परन्तु यदि एक ही चिन्मात्र ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो यह नानारूप समस्त जगत्, जिसमें हम विचरण करते हैं और जिसमें अनन्त भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, कैसे बन गया, और नाना जीव जो एक दूसरे को अपने से भिन्न समझते हैं कहाँ से आ गये ? उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यह जगत् वास्तव में मिथ्या है और ब्रह्म की शक्ति मायाकृत है। माया ही जगत् की प्रकृति है। “माया” “अविद्या” “अव्यक्त” “अव्याकृत” सब समानार्थक शब्द हैं। यह माया वास्तव में सत् तो नहीं कही जा सकती क्योंकि ब्रह्म ही केवल सत् वस्तु है। परन्तु साथ ही असत् भी नहीं कही जा सकती क्योंकि इस दृश्य जगत् का कारण है, अतः सत् असत् दोनों से माया अनिर्वचनीय है। माया केवल एक ऐंद्रजालिक शक्ति की नाई नाना प्रकार के नाना रूप को उत्पादन करती है, परन्तु उसके कार्यों से ब्रह्म को, जो नित्य शुद्ध, बुद्ध, और पूर्ण है कुछ क्षति नहीं होती। जिस प्रकार कोई मायावी (बाजीगर) अपनी माया के कार्यों से किसी काल में प्रभावित नहीं होता है। उसी प्रकार ब्रह्म भी मायाकृत प्रपञ्च से प्रभूत नहीं होता। माया असत्य होते हुए भी भावरूप है, अभावरूप नहीं है, क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्ता तो अवश्य ही है। माया-कृत प्रपञ्च का सत्य वस्तु के साथ वही सम्बन्ध है जो “प्रतिभासिक” सत्ता का “व्यावहारिक” सत्ता के साथ है। शुक्ति में हमारा चाँदी का भ्रम तभी तक रहता है जब तक शुक्ति का ज्ञान नहीं होता। शुक्ति का यथार्थ ज्ञान होते ही चाँदी की सत्ता नष्ट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जगत् व्यवहाररूप से तभी तक भासता है जब तक ब्रह्म के सत्य होने का उदय नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थ उसी काल तक सत्य प्रतीत होते हैं जब तक कि जाग्रतावस्था का अनुभव नहीं होता। मायावी द्वारा

कल्पित पदार्थों की सत्ता जिस प्रकार स्वाधीन अथवा सत्य नहीं है उसी प्रकार अनादि अविद्या-कृत प्रपञ्च की सत्ता ब्रह्म से स्वाधीन तथा सत्य नहीं है। जैसे मरुस्थल में यद्यपि जल का कोई चिन्ह भी नहीं है तथापि मृगतृष्णाजल भासता है और वस्तुतः उसके भासने से बहुत से जन्तु उसको ढूँढ़ने में व्याकुल रहते हैं। ठीक उसी प्रकार यह प्रपञ्च यद्यपि वास्तव में मिथ्या और असत्य है तथापि ब्रह्म में भासता है और अज्ञानी जीव इसके बन्धन में पड़ कर कष्ट पा रहे हैं। आत्मा में वस्तुतः प्रपञ्च है ही नहीं वह तो सदा ही शुद्ध, चैतन्य, अखण्ड, अद्वितीय तथा निर्लेप है, तो भी अज्ञानी जीव को भासता है और वह अपने आत्मत्व को न जानता हुआ अनात्म वस्तुओं में, जो कि मिथ्या, नाशवान् तथा विकारपूर्ण हैं, अपना अहंभाव स्थिर करता है। एक अद्वितीय अखण्ड परमात्मा ही अविद्या द्वारा रचित नाना रूपों में अज्ञान से नाना रूपयुक्त प्रतीत होता है। जैसे एक ही सूर्य नाना प्रकार के दर्पणों में प्रतिबिम्बित होता हुआ नाना रूप से प्रतीत होता है। एक सर्वव्यापी आकाश, जो तीनों कालों में देशानवच्छिन्न है, घटादि प्रदेशों के कारण घटाकाश इत्यादि भिन्न नामरूप से पुकारा जाता है; इसी प्रकार आत्मा भी यद्यपि सर्वव्यापी है तथापि उपाधियों के संग परिमित होता है।

जबतक ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता तबतक जगत् सत्य ही प्रतीत होता है, इसलिये सृष्टि, स्थिति, प्रलय तथा ईश्वर, जीव इत्यादि व्यावहारिक भेद अवश्य ही मानने पड़ते हैं और उन सबका वर्णन करना पड़ता है, और यही कारण है कि सृष्टि का वर्णन मायावादी भी करते हैं। उपर्युक्त जो अनादि अनिर्वचनीय अघट घटना परीयसी माया है वही जगत् का उपादान कारण है अथवा यह कहिये कि माया उपाधि युक्त ब्रह्म ही जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। मायोपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है, और इसी ईश्वर

(४)

से प्रेरित होकर माया उत्तरोत्तर विकास क्रम से नाना प्रकार के भिन्न रूपों में परिणत होती है। माया से ही क्रम से विविध भूतों तथा जीवों के शरीरों का विकास होता है। यद्यपि समस्त शरीरों में वही परमात्मा अखण्ड रूप से विद्यमान है तथापि विशिष्ट तथा मायाकृत नाना उपाधियों के कारण वह अनेक शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप से वर्तमान प्रतीत होता है। प्रत्येक जीव में जो सत्य और अविकारी तत्व है, वह केवल परमात्मा है। सारे स्थूल और सूक्ष्म शरीर, जो एक जीव को दूसरे से से भिन्न कराते हैं, माया ही के कार्य हैं। अतएव समस्त भेद-भाव मिथ्या है। इस मिथ्या भेद-भाव से प्रेरित जीव नाना प्रकार पुण्य, पाप करता हुआ, नाना शुभाशुभ फलों को भोगने के लिये नाना लोकों में जन्म मरण के दुःख पाता है, और नाना प्रकार के मतमतान्तरों में भ्रमण करता रहता है। यद्यपि वास्तव में जीवात्मा परमात्मा ही है और इसी कारण शुद्ध, चैतन्य, अकर्ता, विभु, पूर्ण, और सर्वशक्तिमान् है तथापि मायाकृत उपाधियों के सम्बन्ध से अपने आप को कर्ता, भोक्ता, तथा अपूर्ण और अशक्त समझने लगता है, और फलतः कर्म के चक्र में फँस जाता है। जीवों को कर्म-फल देने वाला ईश्वर भी व्यवहारावस्था से सत्य है और उसका काम जीवों के कर्मानुसार भोग देना सृष्टि स्थिति और प्रलय करना है। इस संसार-चक्र से छूटने का केवल एक ही उपाय है। कर्म चाहे कितने शुभ हों जीव को बन्धन से मुक्त नहीं करा सकते, उपासना भी संसार पाश में ही फँसाये रखती है। भ्रम का बाध केवल सम्यक ज्ञान से ही हो सकता है, प्रपञ्च मिथ्या भ्रम है, इसका बाध केवल सद्बस्तु ब्रह्म के ही ज्ञान से हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिये मोक्षार्थी पुरुष को चाहिये कि उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान का जिसका "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यों में, स्पष्टरूप से वर्णन है, श्रवण करें। उस पर मनुन और निदिध्यासन करके ब्रह्म

और आत्मा की एकता तथा ब्रह्म की सत्यता और जगत् के मिथ्यात्व को जानकर झूठे बन्धन से मुक्त हो जायँ यह संक्षेप से शंकराचार्य का मायावाद है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, शंकराचार्य अपने मत को स्वतन्त्र मत नहीं कहते वरन् यही समझते हैं कि सूत्रकार बादरायण और उपनिषदों का ही यह सिद्धांत है। सूत्रकार का क्या मत है, इस बात पर बड़ा मत-भेद है। एक श्री शंकराचार्य ही ने नहीं, किन्तु बहुत से आचार्यों ने (यथा, श्री रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, माधवाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि) सूत्रों की व्याख्या की है और भिन्न-भिन्न मत स्थापित किये हैं। इससे मालूम पड़ता है कि सूत्रकार के ठीक मत का पता चलाना कठिन काम है। हमारा काम यहाँ पर यह विचार करने का नहीं है कि सूत्रकार का क्या मत है। वरन् क्योंकि शंकराचार्य सूत्रों के भाष्य में अपने मायावाद का प्रतिपादन करते हैं और समझते हैं कि सूत्रकार मायावादी ही था, इसलिये हमको यह देखना है कि सूत्रकार बादरायण मायावादी था या नहीं। इदानींकालीन बड़े-बड़े भारतीय तथा योरोपीय विद्वानों की राय यहाँ पर एक दूसरे के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ हम एक-एक मत दोनों पक्षों का संक्षेपतः उद्धृत करते हैं।

डाक्टर थीबो^१ निम्नलिखित तर्क द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि सूत्रकार मायावादी नहीं था:—

जिस ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान वेदान्त का एक मात्र लक्ष्य है और जिसके ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उस ब्रह्म की परिभाषा में केवल यही कहना कि “जन्माद्यस्ययतः” (वे०सू० १।१।२) अर्थात् ब्रह्म वह है जिससे इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होती है, मायावादी के मत से संगत नहीं है। यह व्याख्या शंकर के पश्चात् किसी मायावादी ने नहीं वरन् मायावाद के ब्रह्म की परिभाषायें सब

^१Cf. Dr. Thibaut : Introduction to his Translation of Shankarabhashya on the Vedanta Sutras.

ग्रन्थों में इस प्रकार मिलती हैं कि वह अखण्ड, निर्लेप, सच्चिदानन्द, अथवा स्वयंप्रकाश संवित् है जो देशकाल से अनवच्छिन्न है। यदि सूत्रकार मायावादी होता तो ब्रह्म की परिभाषा इस प्रकार कदापि न करता। मायावाद के अनुसार यह परिभाषा तो केवल मायोपहित ब्रह्म ही की, जिस को अपरब्रह्म अथवा ईश्वर के नाम से पुकारते हैं, हो सकती है।

वेदान्त पर सांख्य मतवालों का आक्षेप है कि अचेतन जगत् की उत्पत्ति चेतन ब्रह्म से किस प्रकार हो सकती है। इसके प्रति उत्तर में सूत्रकार लिखता है कि दृश्यते तु (२।२।६) अर्थात् चेतन से जड़ की उत्पत्ति को हम संसार में प्रत्यक्ष देखते हैं। हम लोग देखते हैं कि केश, नख आदि जड़ पदार्थों की उत्पत्ति चेतन मनुष्य से होती है। यह तर्क शंकर के मायावाद के लिये निरर्थक ही है। शंकराचार्य के मायावाद के अनुसार संसार की उत्पत्ति चेतन ब्रह्म से नहीं होती, वरन् मायोपहित ब्रह्मनिमित्त कारण द्वारा जड़ मायारूप उपादान कारण से होती है। सूत्रकार यदि मायावादी होता तो अवश्य यह बात कहता।

द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के नवमसूत्र में सूत्रकार उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि प्रलयकाल में जब संसार ब्रह्म में लय हो जाता है तो जगत की श्रुतियों तथा अवगुणों का ब्रह्म के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह बात भी मायावाद से असङ्गत है, क्योंकि मायावाद के अनुसार तो प्रलयकाल में जगत ब्रह्म में लय नहीं होता, वरन् माया ही में लय होता है।

सूत्र २।२।२४ में सूत्रकार उदाहरण देकर यह बात कहता है कि जिस प्रकार दूध बिना किसी उपकरण के दही बन जाता है उसी प्रकार ब्रह्म भी बिना किसी वाह्य उपकरण की सहायता के केवल

अपनी ही शक्ति से जगत्-रूप में परिणित हो जाता है। यदि सूत्रकार का यह मत होता कि ब्रह्म स्वयं परिणित नहीं होता वरन् संसार केवल माया ही का परिणाम और ब्रह्म का विवर्त्तमात्र है तो यह उदाहरण नहीं देता। इस उदाहरण से तो ब्रह्म सविकार सिद्ध होता है और यह भी सिद्ध होता है कि जगत् ब्रह्म ही की विकृत अवस्था है।

सूत्र २।२।२५ में यह उदाहरण दिया गया है कि जिस प्रकार देवता आदि अपनी इच्छा से ही सृष्टि कर देते हैं उसी प्रकार परमात्मा को भी जगत् का कारण मान सकते हैं। यहां पर सूत्रकार के मतानुसार जगत् तथा जगत् की सृष्टि सत्य ही प्रतीत होती है। परन्तु मायावाद के अनुसार तो यह बात असङ्गत है। क्योंकि मायावाद में तो सृष्टि तथा जगत् दोनों ही असत् और मिथ्या हैं, रज्जु के देखने से उत्पन्न सर्पभ्रम की नाई भ्रम-मात्र है। शंकर का प्रसिद्ध उदाहरण—मायावी (ऐंद्रजालिक) तथा उसकी माया (इन्द्रजाल)—सूत्रकार के ध्यान में भी नहीं आया।

प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्त में सूत्रकार ने लिखा है कि ब्रह्म केवल निमित्त कारण ही नहीं वरन् उपादान कारण भी है। यही एक उचित अवसर था जहां यदि सूत्रकार मायावादी होता तो लिख देता कि शुद्ध ब्रह्म नहीं किन्तु मायोपहित ब्रह्म ही या ब्रह्म के आश्रित माया ही जगत् का उपादान कारण है, तथा संसार सत्य नहीं वरन् मिथ्या माया है। इस प्रसङ्ग के किसी भी सूत्र में इस प्रकार की बात नहीं आती प्रत्युत २६ वें सूत्र में स्पष्ट लिखा हुआ है कि संसार ब्रह्म का विकार है, क्योंकि सूत्रकार का वचन है—परिणामात् परिणाम से।

जो अधिकरण सूत्र ३।२।११ से आरंभ होता है मायावादी शंकर के लिये बहुत महत्व का है। यहाँ पर सूत्र बड़े क्लिष्ट हैं।

शंकर के भाष्य के अनुसार इस अधिकरण में सूत्रकार यह प्रतिपादन करता है कि ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष है, माया के कारण ही वह सगुण जान पड़ता है। परन्तु सूक्ष्म रीति से और स्वतन्त्र विचार से यदि इस अधिकरण का अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही यह सिद्ध होगा कि इस अधिकरण में एक भी सूत्र इस मत का समर्थक नहीं है।

सूत्र ३।२।३ ही एक ऐसा सूत्र है जिसमें माया शब्द प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य जी इसका यह अर्थ लगाते हैं कि स्वप्नावस्था के पदार्थ जाग्रतावस्था के पदार्थों से प्रतिकूल रूप होने के कारण माया मात्र हैं। यदि यही अर्थ ठीक माना जाय तो सूत्रकार का सिद्धान्त यह ज्ञात होता है कि जाग्रतावस्था के पदार्थ मायामात्र नहीं हैं वरन् सत्य हैं जिनके समक्ष स्वप्नावस्था के पदार्थ असत्य और मायामात्र हैं। क्या इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि बादरायण (सूत्रकार) मायावादी नहीं था ? यदि माया शब्द का प्रयोग उसने किया भी है तो शंकर के अर्थ में नहीं किया है। जैसा कि रामानुजाचार्य कहते हैं कि सूत्रकार के चित्त में माया का अर्थ केवल आश्चर्यजनक वस्तु ही था।

डाक्टर थीवो के महत्वपूर्ण उपर्युक्त आक्षेपों का प्रत्युत्तर प्रो० सुन्दरम "वेदान्तसार" नामक पुस्तक की भूमिका में निम्न-लिखित प्रकार से देते हैं और प्रमाणित करते हैं कि सूत्रकार भी मायावादी था।

डाक्टर थीवो यह नहीं समझते कि शंकर के मत में माया, अविद्या, प्रकृति, अव्यक्त, आकाश आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। शंकराचार्य सूत्र १।४।३ के भाष्य में प्रकट रूप से कहते

हैं अविद्यात्मिका हिंसा बीजशक्ति अव्यक्तशब्द निर्देश्या.....तदे-
तदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टं क्वचिदक्षरशब्दोदितं क्वचिन्मा-
येति सूचितं । दूसरी भूल जो डाक्टर साहब करते हैं वह यह है
कि वे माया को उपादान कारण समझते हैं । यह बात व्यावहारिक
दृष्टि से सत्य होते हुये भी शंकर के मत के अनुसार पारमार्थिक
दृष्टि से असत्य ही है, क्योंकि शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म ही सत्य
है और जिसके जानने से कोई पदार्थ अज्ञात नहीं रहता । अतएव
यह निश्चय हुआ कि ब्रह्म अव्यक्त (माया, अविद्या, अव्यक्त,
आकाश) तथा व्यक्त दोनों ही का उपादान कारण है । अतएव सूत्र
१।४।२३ शंकर के मत के विरुद्ध नहीं है । यही बात शंकराचार्य
अपने भाष्य में लिखते हैं:-उपादान कारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं
निमित्त कारणं च अर्थात् ब्रह्म उपादान कारण और निमित्त कारण
दोनों ही है । माया ब्रह्म का विवर्त्त और ब्रह्म माया का विवर्त्तो-
पादान है । अद्वैतवादियों का यही अन्तिम सिद्धान्त है । जब हम
विवर्त्तरूप जगत का विचार करते हैं तब अव्यक्त अर्थात् माया ही
नाम रूपात्मक जगत का उपादान कारण सिद्ध होता है और जब
माया का विचार करते हैं तो ब्रह्म ही माया का उपादान जान
पड़ता है । अतएव सूत्र १।१।२ के अनुसार ब्रह्म ही जगत का
अन्तिम कारण है और इस सूत्र द्वारा की हुई ब्रह्म की परिभाषा
शंकर मत के विरुद्ध नहीं है और इस कारण से चेतन मनुष्य से
नख, केश इत्यादि जड़ पदार्थों की उत्पत्ति का उदाहरण युक्तिसंगत
है । क्योंकि इन उदाहरणों तथा ब्रह्म दोनों ही में चेतन से जड़ की
उत्पत्ति होती है ।

ब्रह्म ही संसार का कारण है । सूत्र २।१।९ में यह भी कहा
है कि न केवल प्रलयकाल ही में वरन् त्रिकाल में कारण और कार्य
में एकता है । प्रलयकाल में कार्य अपने कारण में अपनी त्रुटियों का

प्रभाव उत्पन्न करेगा, यह आपत्ति निर्मूल है। क्योंकि कार्य कारण के ऐक्य को स्वीकार करने पर यह तर्क स्पष्ट तथा प्रलयकाल दोनों ही में लागू होता है। श्रीबो साहब समझते हैं कि शंकराचार्य के मतानुसार जगत् प्रलयावस्था में ब्रह्म में लय नहीं होता किन्तु यह व्यक्त संसार अव्यक्त माया ही में लीन होता है और इससे ब्रह्म में कुछ परिवर्तन नहीं होता। यहां श्रीबो साहब भूल करते हैं, इस बात को सर्वथा ही भूल जाते हैं कि ब्रह्म ही माया का विवर्त्तोपादान कारण है। शंकराचार्य के मत में और सूत्रकार के मत में अन्तर नहीं वरन् यह बात है कि शंकराचार्य सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिये ऐन्द्रजालिक का दृष्टान्त देते हैं। जैसे मायावी अपनी माया से प्रभावित नहीं होता उसी प्रकार ब्रह्म भी संसार से प्रभावित नहीं होता। सदा निर्लेप ही रहता है। श्रीबो समझते हैं कि शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म नहीं वरन् माया ही जगत् का उपादान कारण है। यही भूल उनके समस्त आक्षेपों का आधार है।

सूत्र २।१।२४ 'क्षीरवार्द्ध' में, जैसा कि शंकराचार्य ने अपने भाष्य में स्पष्ट किया है, यह संकेत किया गया है कि जिस प्रकार दूध बिना किसी उपकरण के दही बन जाता है उसी प्रकार ब्रह्म अपनी ही शक्ति से बिना किसी बाह्य साधन की सहायता के स्वयं जगतरूप हो जाता है। उपमायें केवल एक या दो बातें स्पष्ट करने के लिये ही प्रयुक्त हुआ करती हैं। दृष्टान्त तथा दृष्टान्त में एक अङ्ग ही की समता हुआ करती है। सर्वथा समता की आशा करना भूल है। यहां पर केवल इतनी ही समता है कि दोनों बिना किसी उपकरण के कार्य उत्पन्न करते हैं। इससे अधिक कुछ भी न समझना चाहिये। अन्य अंगों में भेद हैं।

सूत्र २।१।२५ के समझने में भी श्रीबो साहब यही भूल करते हैं। देवता आदि का उदाहरण केवल इस बात को स्पष्ट करने के

लिये दिया गया है कि ब्रह्म अपनी ही शक्ति से, बिना किसी बाह्य उपकरण के, जगत की उत्पत्ति कर सकता है। केवल यही अङ्ग इस दृष्टान्त का ध्यान में रखना चाहिये और कुछ नहीं। और शेष अङ्गों में दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में भेद है ॥

जिस मत का समर्थन सारा ग्रन्थ करता है उसका खण्डन एक सूत्र से नहीं हो सकता। सूत्र ४-२-६ “परिणामात्” का अर्थ युक्ति संगत लगाना पड़ेगा। जब सूत्रकार ने ब्रह्म ही एकमात्र सतवस्तु मानी है तो यहाँ पर परिणाम शब्द का अर्थ कार्य मात्र करना चाहिये, जैसा कि गोविन्दाचार्य जी भी लिखते हैं “अत्र सूत्रो परिणाम शब्द कार्यमात्र पर”.....!

जागृति तथा सुषुप्ति माया हैं। स्वप्न मायामात्र है इसी भेद को निर्दिष्ट करने के लिये सूत्रकार ने मायामात्र शब्द का—माया का नहीं—प्रयोग किया है। इसमें संदेह नहीं कि बादरायण का मत शंकर के मत से भिन्न नहीं था। माया शब्द का अर्थ उन्होंने भी शंकर ही के तरह किया है। इसलिये स्वप्न को केवल माया न कहकर माया-मात्र कहा है। माया न कहकर मायामात्र कहने का और क्या अभिप्राय हो सकता है? जाग्रतावस्था के व्यवहार माया हैं और स्वप्नावस्था के व्यवहार जाग्रत के व्यवहारों से भिन्न गुण विशिष्ट प्रतीत होते हैं। इसलिये ही उनको माया न कहकर मायामात्र कहा है ॥

पाठक अच्छी तरह समझ गये होंगे कि प्रो० सुन्दरम के प्रत्युत्तर कहां तक संतोषजनक हैं और कहां तक डा० थियो के आक्षेपों को विफल करने में समर्थ हुए हैं। हमारा सिद्धांत तो यह है कि यदि न्यायपूर्वक और स्वतन्त्र विचार से और शंकर भाष्य में प्रतिपादित सिद्धान्त से अपने चित्त को रञ्जित न करते हुए ब्रह्मसूत्र

का अध्ययन किया जाय तो सूत्रों में कोई भी बात ऐसी न मिलेगी जो शंकर के मायावाद को सूचित करती हो। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि शंकराचार्य का ब्रह्मसूत्र-भाष्य मायावाद से भरा हुआ है, परन्तु जहाँ कहीं भी वे मायावाद का समर्थन करते हैं वहाँ पर स्पष्ट पता चल जाता है कि वह विचार सूत्रकार के नहीं हैं वरन् शंकराचार्य ही के स्वतन्त्र विचार हैं। सूत्रकार ने कहीं भी ऐसे उदाहरण नहीं दिये जैसा कि श्री शंकराचार्य जी ने दिया है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि सूत्र इस रूप में लिखे हुए हैं कि बिना भाष्य के उनका अर्थ समझने में कठिनाई होती है परन्तु फिर भी यदि स्वतंत्र दृष्टि से देखा जाय तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जायगा कि सूत्रकार मायावादी नहीं था ॥

(२)

यह संभव हो सकता है कि सूत्रकार ने, जिसने कि उपनिषदों के सिद्धान्तों को न समझा हो, व्यर्थ ही सिद्धान्तों को सूत्र-माला में संकलित करने का प्रयत्न करके अपनी नासमझी का परिचय दिया हो, अथवा यह भी संभव है कि उपनिषदों का सिद्धान्त शंकराचार्य के मायावाद का सिद्धान्त ही हो। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि शंकराचार्य जी ने उपनिषदों की शिक्षानुसार सूत्रों को समझकर अपना भाष्य लिखा हो। इसलिये यह प्रश्न है कि उपनिषदों में, जहाँ से शंकराचार्य प्रमाण देते हैं और जिनको वे परम प्रमाण समझते हैं, मायावाद है अथवा नहीं। यदि केवल श्री शंकराचार्य जी ही ने उपनिषदों पर भाष्य लिखा होता तो किञ्चित् यह प्रश्न न उठता, परन्तु उपनिषदों के आधार पर बहुत से मत चले हैं। और बहुत से आचार्यों ने उन पर भाष्य लिखे हैं और उनके अर्थ इस प्रकार किये हैं कि मानों शंकराचार्य जी का मत उप-

निपदों का स्पष्ट मत नहीं है। हम यहाँ पर उन आचार्यों की राय नहीं लिखना चाहते जिन्होंने अपने अपने सम्प्रदाय को पुष्ट करने के लिये बहुत सी श्रुतियों का अर्थ तोड़ मरोड़ कर मनमाना किया है हमको उन विद्वानों का मत लेना है जो पक्षपात रहित होकर उपनिषदों की समालोचना करते हैं। आजकल के योरोपीय तथा भारतीय पण्डितों में भी इस बात के ऊपर बड़ा मतभेद है कि उपनिषदों में मायावाद है अथवा नहीं। मायावाद के सिद्धान्त के अस्तित्व को मानने वालों में से जर्मनी के पण्डित डायसन बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका मत है कि उपनिषदों के प्रधान सिद्धान्तों में मायावाद है। संक्षेपतः हम उनके दिये हुए कारणों को नीचे उद्धृत करते हैं :—

यह ठीक है कि माया शब्द दार्शनिक अर्थ में पहले पहल श्वेताश्वतर उपनिषद् (४।१) में ही आया है। परन्तु वास्तव में अधिक प्राचीन उपनिषद् भी ऐसे विचारों से प्रायः पूर्ण हैं जिनका बोध बाद में 'माया' शब्द से होने लगा। उनका यह आदेश ही कि आत्मा का अन्वीक्षण करना चाहिये (वृ २।४।५) आत्मा व अरे दृष्टव्यः (छा. ८।७।१) इस बात द्योतक है कि यह शरीर और यह जगत् जो अन्वेषण के ही अपने को प्रकाश करते हैं, आत्मा नहीं है, तथा जो लोग विरोचन की नाईं उनको ही सच समझते हैं, वे भारी भ्रम में हैं (छा. ८।८।४)। समस्त सांसारिक वस्तुओं का और सम्बन्धों का जैसा कि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषत् (२।४।५) में कहा है कि आत्मा के अर्थ के अतिरिक्त अपना स्वयं कोई मूल्य नहीं है। परन्तु आत्मा ही के लिये उनका मूल्य है। यही नहीं बल्कि यह भी कहा है कि वे आत्मा में ही स्थित है और जो मनुष्य उनको आत्मा से पृथक् करके (अन्तरा आत्मनः) मानता है वह शोक का भागी होता है। आत्मा क्या है इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि

(वृ, २।४।१ इत्यादि) यही आत्मा क्षत्र है । आकाश है । देवता है । उसी प्रकार इस आत्मा में सब पिरोये हुए जीव है । यह आत्मा ही अखिल विश्व है (इदं सर्वं यदयं आत्मा) । जिस प्रकार कोई आदमी एक वीणा को हाथ में ले लेने से उसके सुरों की भी हाथ में ही लेता है उसी प्रकार जो मनुष्य इस आत्मा को समझ लेता है वह इन सब पदार्थों को भी समझ लेता है । “जिसने आत्मा को देखा है, सुना है, समझा है, निश्चय ही उसने इस समस्त जगत को समझ लिया है” (वृ उ० २।४।५) ॥

बृहदारण्यकोपनिषद् के इन विचारों के ही आधार पर और इनसे घनिष्ठ संबंध रखने वाला छान्दोग्योपनिषद् का यह विचार है क्या तुम मुझसे उस शिक्षा को लेना चाहते हो जिससे अनसुना भी सुना हो जाता है । न समझा हुआ भी समझा हुआ हो जाता है और न जाना हुआ भी जाना हुआ हो जाता है । वह शिक्षा क्या है ? हे सौम्य मिट्टी के डले के ज्ञान से मिट्टी से बनी हुई सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है क्योंकि विकार तो नाम मात्र का है (वाचारम्भणं विकारो नामधेयं) । वास्तव में मिट्टी से बनी हुई सब वस्तुयें मिट्टी ही हैं । यह मिट्टी ही सत्य है । यहाँ पर एक पदार्थ के अनेकानेक विचारों को केवल वाचारम्भण या नामधेय कहा है । उत्तरकालीन उपनिषदों के वाक्य इन्हीं विचारों के आधार पर हैं और ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं यथा “यह नाना नहीं हैं, (कौषी. ३।८) “यहाँ जो नाना देखता है वह मृत्यु से भी परे मृत्यु को प्राप्त होता है” । एवं पीछे के उपनिषदों में यहाँ तक पाया जाता है कि नानात्व के वर्त्तमान होने का कोई प्रमाण ही नहीं दिया जा सकता क्योंकि केवल एक अद्वितीय आत्मा ही के अस्तित्व का प्रमाण है, किसी दूसरे के अस्तित्व का नहीं है (नसिंहोत उ) । इन बातों से यह सिद्ध होता है कि जो सिद्धान्त मायावाद में स्पष्टरूप से उत्तर काल स्थापित

किया गया था वह इस आत्मवाद के सिद्धान्त से भिन्न नहीं है वरन् उसका सहायक तथा आवश्यक अङ्ग है। जितने पुराने उपनिषद हैं उतने ही निश्चय से और दृढ़ता से वे नानात्व रूप प्रपञ्च को मिथ्या कहते हैं।

यही नहीं वरन् उपनिषदों के पूर्वगामी संहिता के समय में भी याज्ञवल्क्य के सिद्धांत बीज रूप से पाये जाते हैं। एकत्व का विचार इतना पुराना है कि ऋग्वेद के मंत्रों में भी बहुलता से पाया जाता है। जगत् में एकत्व के ही मानने का अर्थ यह है कि जितनी वस्तुयें हम नानारूप वाली देखते हैं वास्तव में नामरूप मात्र हैं। ऋग्वेद ५।१।१६ ४।४ ६, में जो यह कहा है “एकं सद्बिप्रा बहुधावदन्ति” इसका अभिप्राय यही है कि नानात्व केवल शब्दों में ही है वास्तव में नहीं है। इस प्रकार यदि ऋग्वेद के ५।१०।१२६।२. ५।१०।८२।६ ५।१०।६०।२, इत्यादि मंत्रों और अथर्ववेद के १०।७।२१; १०।८।३४ इत्यादि मंत्रों को और तैत्त० ब्राह्मण के ३।१२।६ शतपथ ब्राह्मण के १०।६।३, तैत्त० ब्राह्मण के ३।१२।६।१ इत्यादि मंत्रों का अर्थ यदि हम स्पष्टता से समझने का प्रयत्न करें तो सब का सिद्धांत यही मालूम होगा कि केवल एकत्व ही सत्य है और बहुत्व केवल हमारी बुद्धि की कमी से दीखता है और वह एकत्व हमारा ही आत्मा है। इन विचारों का विकास स्थूलरूप से उपनिषदों में होता है और सबसे पहला उपनिषद बृहदारण्यक इन्हीं विचारों के आधार पर यह कहता है “विश्व का पता हमारे ही आत्मा से चलता है क्योंकि आत्मा में ही मनुष्य समस्त जगत् को जान जाता है, इसीलिये पुत्र से भी प्यारा, राजा से प्यारा, सबसे अधिक प्यारा यह आत्मा है क्योंकि वह सब की अपेक्षा हमारा अधिक समीपवर्ती है और हमारा ही आत्मा है “(बृ० १।१।४।७) इस विचार का अधिक स्पष्टरूप याज्ञवल्क्य और

मैत्रेयी के संवाद में पाया जाता हैं। याज्ञवल्क्य अपने उपदेश को इस प्रकार आरम्भ करते हैं 'वास्तव में पति पति के ही लिये प्रिय नहीं होता बल्कि आत्मा के लिये'। इसी बात को स्त्री, पुत्र और राज्य के ब्राह्मण क्षत्रिय, लोक, देवता, समस्त चेतन प्राणी तथा विश्व के संबन्धमें कहकर पुष्ट करते हैं। उनके कथन की समाप्ति के अनुसार आत्मा का अर्थ यहाँ पर (वृ० २।४, २।४।१४) हमारे अन्दर जो स्वयं प्रकाश चिन्मात्रपरमविज्ञाता हैं। और सारे कथन का अभिप्राय यह है कि संसार के सब पदार्थ और सम्बन्ध केवल इसी कारण हमारे प्रिय हैं कि वे परमप्रिय एक अद्वितीय विज्ञानमय आत्मा से व्याप्त हैं और आत्मा से स्वाधीन तथा अनाश्रित होकर कुछ भी नहीं है। इसीलिये आगे याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे मैत्रेयी आत्मा को समझो और जानो जिसने आत्मा को देख लिया, सुन लिया, समझ लिया और जान लिया उसने समस्त संसार को जान लिया। जैसे कि ढोल की आवाज, शंख की ध्वनि तथा बाँसुरी के स्वर स्वयं स्वाधीन सत्ता वाले नहीं हैं वरन् उनकी सत्ता ढोल, शंख तथा बाँसुरी की सत्ता के ही आधीन है और जो उनके आधारों को प्राप्त कर लेता है, वह उनको भी प्राप्त कर लेता है ठीक इसी प्रकार जो पुरुष आत्मा को जान लेता है वह सारे जगत् को जान लेता है, क्योंकि जगत् की सत्ता केवल आत्मा ही की सत्ता के आधीन है (वृ० उ० २।४, २।१।६) आकाश अपने सब द्रव्यों के साथ इस विज्ञानात्मा में श्रोतप्रोत है [वृ० उ० ३।८।११, वृ० ४।४।१७]। समस्त ब्रह्माण्ड और लोक आत्मा के अङ्ग हैं [वृ० उ० ४।२।४] नाम रूप कर्ममय जगत् त्रयात्म होता होता हुआ भी एक ही है और वह आत्मा ही है। यह अमृत है जो सत्य से ढका हुआ है [वृ० उ० १।६।३] यह परम सत्य है, ^{जैसे} चिनगारियाँ अग्नि से निकलती है वैसे ही इस आत्मा से समस्त प्राण जीव, जगत् देवगण प्रादभूत होते हैं [वृ० उ० २।१।२०] जैसे रथ की

नाभि में सब अरे पिरोये हुए हैं [वृ० उ० २।५।१५] स्पनावस्था में यह इस संसार को लाँघ जाता है और मृत्यु के सब रूपों से परे हो जाता है [वृ० २।४।१७] चेष्टा करता हुआ सा मालूम होता है। [वृ० २।४।१४] द्वैत सा जान पड़ता है, कोई दूसरी सत्ता केवल दिखाई पड़ती है, वह एक ही अद्वितीय सबका साक्षीरूप है [वृ० उ० ४।३।३२] यहाँ पर नानात्व किसी प्रकार भी नहीं है [वृ० उ० ४।४।१६] ये समस्त विचार प्राचीनतम उपनिषदों के हैं। इस प्रकार के विचार उत्तरकालीन उपनिषदों में ही नहीं वरन् पुराने से पुराने याज्ञवल्क्य के सम्वाद में भी पाये जाते हैं। और वहाँ से आरम्भ हो कर यह सिद्धांत कि आत्मा ही एक मात्र सत्य वस्तु तथा समस्त जगत् का आधार है पिछले उपनिषदों में उद्घोषित हो रहा है। यही एक सिद्धांत नानारूप में उपनिषदों में मिलता है। मुण्डक उपनिषद् [१।३] का प्रश्न “वह कौन सा सत्य पदार्थ है जिसके जानने से सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है” इसी सिद्धांत पर है। आगे चलकर भी हमें आत्मा की सत्यता तथा नानारूप जगत् के असत्यता के प्रमाण मिलते हैं। यथा (उ० २।६) में “इस लिये ही मनुष्य इसे सत्य कहते हैं”। श्वेता० उ० ३।३ में यह समझाया गया है कि ब्रह्माण्ड के समस्त दृष्टिगोचर विषयों का पथप्रदर्शक विज्ञानात्मा ही है। और पीछे के उपनिषदों में भी नानात्व का पूर्णरूप से निषेध किया है। कठोपनिषद् ४।१०।११ में तथा अन्त में श्वेता० उ० में तो स्पष्ट यही कह दिया है कि जिसको सांख्यवाले प्रकृति कहते हैं और जो जगत् की उपादान कारण है वह केवल माया ही है। ईश उ० में आदि में ही आत्मभाव को ईश्वर में ही लीन करने का आदेश है और १२-२४ श्लोकों में द्वैत निषेध के अतिरिक्त परिवर्तन‡ का भी निषेध पाते हैं। माण्डूक्य ७ में आत्मा का यह वर्णन मिलता है कि “वह द्वैतरहित, शान्त, तथा जगत् के समस्त विस्तार को नाश करने वाला

‡ Change.

है" । पिछले उपनिषदों में भी मैत्रेय उ० ६।२४ में आत्मा का प्रपञ्च का मिथ्या तथा असत्य होना अलातचक्र के दृष्टान्त को देकर सम-
झाया है ।

इन युक्तियों द्वारा डा० डायसन यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदों में आत्मा को सत्य और नानात्मक जगत् को असत्य माना है और यह भी सिद्ध करते हैं कि यद्यपि अविद्या का अर्थ पहले केवल सत्य के ज्ञान का न होना था परन्तु पश्चात् इसके अर्थ भावरूप अज्ञान के जो कि ब्रह्मात्मैक्यज्ञान का ज्ञान को रोककर भ्रमरूप जगत् की उत्पत्ति करता है ।

इस मत के अनुयायी बड़े बड़े विद्वान हैं । उन लोगों के अतिरिक्त जो केवल अंधविश्वास से ही यह मानते आ रहे हैं कि शंकराचार्य जी जो कहते हैं वही उपनिषदों में है, आजकल के बड़े बड़े विद्वान जो मतमतान्तर के झगड़ों में न पड़कर केवल सत्य ही का अनुसंधान करते हैं डायसन की तरह यह समझते हैं कि उपनिषदों में मायावाद है योरोपीय विद्वानों में गफ़* साहब ने भी यही सिद्ध किया है और डा० प्रभुदत्त शास्त्री ने भी अपनी 'मायावाद'† पुस्तक में यही सिद्ध किया है कि मायावाद शंकर ही का नहीं है वरन् उपनिषदों में बहुत प्राचीन समय से है ।

अब एक ओर डायसन तथा शास्त्री इत्यादि बड़े बड़े विद्वानों का यह मत उपर्युक्त तर्क द्वारा सिद्ध होता है कि मायावाद उपनिषदों का ही सिद्धान्त है, दूसरी ओर भी बड़े बड़े विद्वान हैं जिनमें भूतपूर्व भारतीय आचार्य-रामानुज, वल्लभ, मध्व आदि तथा वर्त्तमानकाल के बड़े बड़े पाश्चात्य तथा देशीय पण्डित यथा कोलिब्रुक, डाक्टर थीव्रो तथा सीतानाथ तत्वभूषण आदि ने यह मत स्थिर किया है कि माया-वाद उपनिषदों के सिद्धान्तों को युक्तिसंगत बनाने के लिये मायावाद

* A E Gough, author of *Philosophy of the Upanishad*.
† *The Doctrine of Maya*.

का समर्थन किया है। उदाहरणार्थ हम संक्षेप से डाक्टर थीवो का मत निम्न स्थान में देते हैं।

थीवो साहव का कथन है कि उपनिषदों के कुछ स्थलों में शंकराचार्य के मायावाद का सूक्ष्मरूप और बीजरूप से मिलना संभव हो सकता है, परन्तु श्रुतियाँ भी बहुत सी ऐसी हैं जो मायावाद की स्पष्टता से विरोधी हैं। उदाहरणार्थ भौतिक जगत की सृष्टि का वर्णन ले लीजिये। छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ६ में सृष्टि-वर्णन देखिये। यहाँ पर संसार के मिथ्यात्व का कोई भी संकेत नहीं है। इस वर्णन को पढ़ते हुये यह कदापि नहीं सूझता कि यह जगत-सृष्टि विवर्त्तात्मक है परिणामात्मक नहीं। अथवा यह जगत जो सत् से प्रादुर्भूत हुआ है असत्य या मिथ्या है। ऐसा ही जान पड़ता है कि जगत की सृष्टि सत्य और वास्तविक है और जो शक्ति इसको उत्पादन करती है वह सत्य और वास्तविक ही है। कहते हैं कि श्वेतकेतु को सम्बोधन करके जो शब्द प्रारम्भ में कहे गये हैं वह संकेत करते हैं कि सृष्टि मिथ्या है। हमारी समझ में तो मिट्टी के लोदे तथा सोने की ईंट के दृष्टान्त से जिनके ज्ञान द्वारा मिट्टी तथा सोने से बनी हुई सब वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, केवल यही मतलब है कि समस्त जगत का उपादान कारण जो ब्रह्म है उसके ज्ञान से जगत के सब पदार्थों का, जो ब्रह्म के इसी प्रकार के कार्य हैं जैसे घटादि मिट्टी के तथा कंकणादि स्वर्ण के कार्य हैं, ज्ञान हो जाता है। अर्थात् जिस तरह मिट्टी के सब कार्यों में मिट्टी ही वर्त्तमान है, इसी प्रकार जगत का कारण ब्रह्म है। इस कथन का यह कदापि अर्थ नहीं हो सकता कि कारण के कार्यरूप में परिणत होने का प्रकार तथा कार्यजात मिथ्या है। दूसरे स्थानों पर भी जहाँ सृष्टि के प्रादुर्भाव का वर्णन है इसी प्रकार समझना चाहिये। कठोपनिषद् (१।३।१०) में जहाँ पर कि परम आत्मा से भौतिक जगत का प्रादुर्भाव वर्णित है, वहाँ पुरुष के पश्चात् ही प्रकृति

(अव्यक्त) का नाम है और मुण्डकोपनिषद् (२।१।७) में अक्षर से परे केवल दैवीपुरुष ही है, इन स्थानों पर वर्णित प्रकृति तथा अक्षर मिथ्या नहीं हैं। वरन् यह संकेत करते हैं कि भौतिक संसार का ब्रह्म से प्रादुर्भाव सत्य है और प्रादुर्भूत जगत् भी सत्य है यह तनिक भी नहीं जान पड़ता कि विकास की विधि तथा विकसित जगत् असत्य है। इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषदों में जगत् की सत्ता ब्रह्म से अनाश्रित नहीं मानी है और न यही माना है कि जगत् का विकास किसी ऐसे तत्त्व से हुआ है जो कि सांख्य वालों के प्रकृति के सदृश ब्रह्म से स्वतन्त्र है। वरन् यही माना है कि जगत् ईश्वर की आश्चर्योत्पादक शक्ति ही से प्रादुर्भूत हुआ है इसलिये ही उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। और उपनिषदों का यह भी मत है कि जड़ जगत् के सब पदार्थ आत्मतत्त्व के समक्ष बहुत तुच्छ हैं परन्तु इस आश्रितता तथा तुच्छता (Dependence and inferiority) के अर्थ वह नहीं हैं जो शंकरभ्रम तथा मिथ्यात्व के हैं। मायावाद के अनुसार समस्त जगत् केवल भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ग्रन्थकार में रस्सी से जैसे सर्प का भ्रम होता है और प्रकाश होते ही जैसे भ्रममूलक अथवा मिथ्या सर्प का नाश हो जाता है, इसी प्रकार यह जगत् भ्रमरूप है और ज्ञान के प्रकाश से इसका अभाव हो जाता है। उपनिषदों के सिद्धान्त इस प्रकार के नहीं हैं। वे केवल यही शिक्षा देते हैं कि संसार के पदार्थ ब्रह्म से पृथक् कोई स्वाधीन सत्ता नहीं रखते और ब्रह्मरूप कारण के कार्य होने से सब पदार्थों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। ऐसा न जानने ही को उपनिषदों में अज्ञान कहा है और इसी अज्ञान को दूर करने का उपदेश उपनिषदों में बारंबार दिया है। सब पदार्थों में एक ही ब्रह्म को व्याप्त देखना यही उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का परम कर्तव्य है। वे यह कदापि नहीं कहते कि सम्यक् ज्ञान वह है जिससे प्रपञ्च का नाश हो जाय। यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु-

पश्यति । सर्व भूतेषु यात्मानं ततो न विजुप्सते (ईश० उ०) । जगत
ब्रह्म का सत्य ही प्रादुर्भाव है । ब्रह्म से ही वह उत्पन्न हुआ है और
और ब्रह्म ही में स्थित है मायावादी तो केवल यही कह सकता है
कि समस्त प्रपञ्च ब्रह्म से बाहर है अर्थात् मिथ्या प्रपञ्च ने ब्रह्म को
आच्छादित कर रखा है । बृहदारण्यकोपनिषद् के कुछ वाक्यों में
जगत के मिथ्यात्व का कुछ कुछ संकेत होना प्रतीत होता है ।
नानात्व तथा द्वैत को उपनिषत्कार एवं विशिष्ट करके इनका
मिथ्यात्व समझाता हुआ मालूम पड़ता है (देखो, यत्र अन्यादिव
स्यात्, 'यत्र द्वैतमिव भवति' 'आत्माध्यायतीव' लेलयतीव.....) परन्तु
इन श्रुतियों के विषय में भी मैं यही कहूँगा कि उनका अर्थ माया-
वाद की कल्पना किये बिना ही लग जाता है । ऐसा कहने से
याज्ञवल्क्य का केवल यही अभिप्राय हो सकता है कि वह सर्व साधा-
रण विचार, जिसके अनुसार संसार में पृथक् पृथक् परस्पर भिन्न
नाना वस्तुयें वर्तमान प्रतीत होती हैं, ठीक नहीं हैं । क्योंकि वस्तुतः
एक वस्तु दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है वरन् सर्व पदार्थ कारणरूप
एक ब्रह्म ही से प्रादुर्भूत होने के कारण एक ही हैं । एक ही वस्तु
ब्रह्म के नाना प्रकार होने से जगत की वस्तुयें असत्य कैसे हो
सकती हैं ?

अब प्रश्न यह है कि इन दोनों मतों में कौन सा मत ठीक है ।
शंकर का मायावाद उपनिषदों में है अथवा नहीं । यह प्रश्न बड़ा
महत्वपूर्ण है और कठिन भी है । यदि ऐसा न होता तो नाना प्रकार
के मत उपनिषदों के आधार पर न चलते । रामानुजाचार्य का
विशिष्टाद्वैतवाद, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का
भेदाभेदवाद, माध्वाचार्य का द्वैतवाद तथा स्वामी दयानन्द का
जीवेश्वर प्रकृतिवाद इन सबका श्रुति ही आधारस्तम्भ है और श्रुति
ही उनका परम प्रमाण है । इससे पता चलता है कि उपनिषदों में

कोई वाद भी स्पष्ट तथा सर्व प्रकार से प्रतिपादित नहीं है। उपनिषद् ऋषियों के अनुभव हैं। तर्क द्वारा प्राप्त सिद्धान्त नहीं है, एक स्थान पर कुछ कह दिया तो दूसरे पर कुछ कह दिया। जैसा उन्होंने अनुभव किया वैसा कह दिया। हमारी समझ में उपनिषदों में तर्क द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त (Philosophy) ढूँढना व्यर्थ है क्योंकि केवल वे विमल मन ऋषियों के नाना प्रकार के अनुभव हैं (Varieties of religious experiences) उत्तरकालीन आचार्यों का यह कार्य हुआ कि इन अनुभवों को तर्क द्वारा अविरुद्ध रूप में दर्शनात्मक बनायें। आजकल की (Psychical Research Society) मनो-घटना-अनुसंधान समिति द्वारा इकट्ठी की हुई घटनाओं को प्रमाण मानकर कोई दर्शन-शास्त्र लिखना चाहे तो ठीक वह हमारे आचार्यों की उपमा के तुल्य हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि बिना किसी आचार्य के सिद्धान्त से अपनी बुद्धि रञ्जित किये यदि हम उपनिषदों को पढ़ें तो हमारे स्वतन्त्र मत में उपनिषदों में क्या विचार बहुलता से पाये जाते हैं ?

हमारे स्वतन्त्र विचार में तो यह बातें आती हैं:—

जो ज्ञान उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को देना चाहता है वह इतना ही है, जगत में चाहे जितनी नाना रूप नामवाली वस्तुयें प्रतीत होती हों उनकी जड़ में कारण-रूप एक ही वस्तुतत्त्व है। नामरूप की दृष्टि से भेद प्रतीत होता है कारण दृष्टि से नहीं। कंकण, किकिण, कुण्डल इत्यादि एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु केवल नाम तथा रूपदृष्टि से। यदि सुवर्ण दृष्टि से देखा जाय तो सब एक स्वर्णमात्र हैं, इसी प्रकार जगत के सब पदार्थ केवल नामरूपदृष्टि से भिन्न हैं। वस्तुतः एक मात्र ब्रह्म ही सबमें व्याप्त है।

याज्ञवल्क्य के सम्वाद से केवल हमको इतना ज्ञान होता है कि केवल आत्मा ही निर्विकार, अविनाशी तथा परम प्रिय वस्तु है,

आत्मा समस्त ज्ञान का अन्तिम विज्ञाता है; आत्मा कदाचित् भी ज्ञेय नहीं हो सकता। एक वस्तु के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरी स्वाधीन वस्तु नहीं है और वह एक तत्त्व पर ज्योतिःही परमध्येय वस्तु है।

समस्त ब्रह्माण्ड का अन्तर्यामी एक आत्मा है जो प्रत्येक वस्तु में रह कर उसका नियामक है और उसका ज्ञान हमारा परम लक्ष्य है।

आत्मा (Individual Self) और परमात्मा (Cosmic Self) में वस्तुतः भेद नहीं है।

असत् का अर्थ उपनिषदों में विकारशील [Changing] है।

परमात्मा को कहीं पर विशेष गुणों से संयुक्त और कहीं पर गुण से परे कहा है अर्थात् जितने विशेषण हमारा मन सोच सकता है उन सबसे परे है।

अब हमें यह देखना चाहिये कि ये ऊपर लिखित जो उपनिषद् के सिद्धान्त हैं इनमें मायावाद है अथवा नहीं। मायावाद के परम सिद्धान्त यह हैं:—कि [१] आत्मा ही सत्य वस्तु है और [२] जगत [जीव ईश्वर कार्य इत्यादि] केवल रस्सी में सर्प, मरुस्थल में मृगतृण्णा के जल ऐन्द्रजालिक दृश्य इत्यादि की नाई भ्रम-मात्र हैं जिसका बोध ब्रह्मज्ञान से सर्वथा हो जाता है। प्रपञ्चवाद का अर्थ मायावाद में केवल यही नहीं है कि हमको यह ज्ञान हो जाय कि जिस प्रकार सोने से बने हुये गहने सोना ही हैं और सोना रूप से उनमें बिल्कुल भेद न हो, इसी प्रकार जगत के सब पदार्थ केवल एक आत्मा ही के नाना नामरूप हैं वरन् यह भी है कि जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने से सांप दृष्टिगोचर ही नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान होने पर प्रपञ्च भी ब्रह्मज्ञानी के लिये अदृष्ट हो जाता है। जिसप्रकार स्वप्न के पदार्थ जाग्रत में रहते ही नहीं हैं। उसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान होने पर प्रपञ्च रहता ही नहीं है।

उपनिषदों में हमें केवल मायावादियों के पहले सिद्धान्त का उद्घोषण ही सुनाई देता है, दूसरे सिद्धान्त का कहीं जिक्र भी नहीं आता। उद्दालक और श्वेतकेतु का सम्वाद यह कहीं भी नहीं दिखाता कि प्रपंचरज्जु में सर्प की नाई मिथ्या है। वह तो केवल यही बतलाता है कि नाना पदार्थों का एक मात्र ब्रह्म ही उपादान कारण है जैसे कि मिट्टी सब मृन्मय भाँडों का कारण है। यह हम मानते हैं कि उपनिषद् प्रपंच को आत्मा से कोई स्वाधीन* वस्तु नहीं मानते वरन् सब पदार्थों को एक ही अद्वैतब्रह्म की चिह्नारियाँ अथवा कार्य मानते हैं। आजकल के जड़द्वैतवादी हेकल अथवा चैत्याद्वैतवादी हेगल भी इस सिद्धान्त को मान सकते हैं कि जगत का उपादान कारण एक अद्वितीय तत्व है परन्तु यह कहना कि सर्वसृष्टि मरुस्थल में मृगतृष्णा जल की नाई भ्रम है इस अद्वैत सिद्धान्त से सिद्ध नहीं होता। यह हम मान सकते हैं कि यह अज्ञान या अविद्या है कि हम जगत में नानात्व परस्पर असम्बद्ध तथा स्वतन्त्र देखते हैं जहाँ कि वस्तुतः वह नहीं है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अविद्या अथवा माया ही जगत का उपादान है। आत्मा के सत्य होने का यह अर्थ नहीं है जगत भ्रमरूप ही है। आत्मा के एक अद्वितीय और सत्य होते हुए भी यह सम्भव हो सकता है कि यह जगत आत्मा ही की विभूति और सत्य लीला हो और इस लीला का आत्मा ही एकमात्र आश्रय हो। यह माना जा सकता है कि उपनिषद् के सिद्धान्त के अनुसार जगत के पदार्थ विकारवान हैं। यह सर्व जगत स्वयं भी कभी कभी तमोरूप प्रकृति में लय हो जाता है और यह प्रकृति केवल ईश्वर ही की अद्भुत सृष्टि उत्पादक एक विचित्र शक्ति है तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि यह ब्रह्माण्ड मरुस्थल में मृगतृष्णा जल अथवा रज्जु में सर्प के समान भ्रममात्र उपनिषत्कारों के सिद्धान्तों में वर्णित है। उपनिषदों

में असत् का अर्थ केवल विकारशील तथा नाशवान है। जगत के नामरूप अवश्य विकारशील हैं और इसी लिये उनको नाशवान कहा है परन्तु यह नहीं कि उनका उपादान अम है। उपनिषत्कार ऋषियों ने यह कहा है कि जगत के पदार्थ जो आत्मा के ही नामरूप हैं विकारशील हैं और उनकी जड़ में छिपा हुआ अविकारी पदार्थ आत्मा सत्य है। जिस प्रकार मिट्टी नाना रूपों में बदलती रहती है, उसी प्रकार आत्मा भी नाना नामरूप में अपने को आविर्भूत करता है।

(३)

तो क्या हम शंकराचार्य को कपटी समझते हैं जो कि केवल धोखा देकर अपना मत श्रुति-सिद्ध करना चाहता हो ? नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। शंकर उपनिषदों के सच्चे दार्शनिक विद्वान की नाई अध्ययन करने वाले थे, उनका विश्वास था कि उपनिषदों में ही सत्यज्ञान है और उनमें कोई बात भी बुद्धि और तर्क विरुद्ध नहीं। उन्होंने भली प्रकार देख लिया था कि जितने दर्शन उस समय भारतवर्ष में प्रचलित थे उन सब से गूढ़ तथा युक्तिसिद्ध वेदान्त दर्शन ही था। उन्होंने उपनिषदों के सिद्धान्तों को एक अविरुद्ध और पूर्ण दर्शनरूप में रखने का प्रयत्न किया। हमारी सम्मति यह है कि उस समय के अनुसार जब कि विज्ञानवादी बौद्धों के सिद्धान्त पूर्णरूप से विकास को प्राप्त हो चुके थे और जब कि योग-मार्ग द्वारा समाधि की अवस्था में जाने की रीतियाँ लोगों को मालूम हो चुकी थीं और जबकि श्री गौड़पाद ने बौद्ध विज्ञानवाद के सिद्धान्तों द्वारा उपनिषदों के अर्थ लगाना प्रारम्भ कर दिया था तो शंकराचार्य का उपनिषद सिद्धान्तों के समझने के प्रयत्न में मायावाद का विकास होना अवश्य ही था। समयानुसार मायावाद के अतिरिक्त शंकर के लिये कोई दूसरा रास्ता ही न था। यदि हम उनकी कठिनाईयों को

समझ जायें तो उनके ऊपर कोई दोष नहीं लगा सकेंगे। शंकराचार्य का मत यह था कि उपनिषद में कही हुई बातें परस्पर अविरोध और युक्तिसंगत हैं। अब इस मत द्वारा क्या क्या आपत्तियाँ मालूम होती हैं उनमें से कुछ का यहाँ हम विचार करते हैं।

एक ही ब्रह्म को कहीं निर्गुणरूप से वर्णन किया है और कहीं सगुणरूप से। यदि श्रुति सत्य कहती है और दोनों रूप सत्य हैं तो श्रुति के वचनों में परस्पर विरोध होता है। दो विरोधी बातों में से एक का मिथ्या होना आवश्यक है। मनुष्य की बुद्धि दो सच्चे विरोध भावों की एक ही वस्तु में कल्पना नहीं कर सकती।

अद्वैत और नानात्व में परस्पर विरोध है यदि एक असत्य है तो दूसरा सत्य होना चाहिये। प्रत्यक्ष रूप से हम जगत् में नानात्व देख रहे हैं परन्तु उपनिषद बारं बार यही कहते हैं “नेह ननास्ति किञ्चन”। उपनिषदों में सच्चा ज्ञान है उसको हम विश्वास करते हैं। इसलिये नानात्वरूप जगत् असत्य है केवल हमको दिखाई दे रहा है। यदि ऐसा है तो हमारे प्रतिभासिक भ्रमों में और जगत् में क्या भेद है, जब तक भ्रम रहता है तब तक तो वह भी सत्य ही प्रतीत होता है। जब तक स्वप्नावस्था रहती है तब तक स्वप्न के पदार्थ सत्य ही प्रतीत होते हैं, केवल जागने पर वे असत्य हो जाते हैं। इसी प्रकार जब तक श्रुति प्रतिपादित ज्ञान, कि केवल एक अद्वितीय आत्मा ही सत्य है, प्राप्त न हो, तब तक नानात्व सत्य प्रतीत होता है। जगत्प्रतीति और और भ्रमप्रतीति में केवल यही भेद हुआ कि एक भ्रम बहुत ही दीर्घकाल तक रहता है और दूसरा थोड़ी देर तक रहता है।

यही नहीं यदि प्रतिभासिक भ्रम में और प्रपञ्च भ्रम में केवल

काल-मात्र का ही भेद है तो हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि जिस प्रकार भ्रम का उपादान कोई बाह्य वस्तु नहीं है वरन् प्रत्येक भ्रम मनोमय ही है जैसा कि विज्ञानवादी सिखाते हैं कि प्रत्येक वस्तु केवल मनोवृत्तिमय ही है, ठीक इसी प्रकार जगत् भी केवल भ्रममात्र है आत्मा ही इसका अधिष्ठान है ।

इसी प्रकार की शिक्षा गौड़पाद भी दे चुके थे और उन्होंने यह भी सिद्ध कर दिया था कि यही मत उपनिषदों का है । गौड़पाद शंकराचार्य के दादागुरु थे और संभव है कि उनसे और शंकर से इस विषय पर खूब वादविवाद हो चुका हो ! गौड़पाद का सिद्धान्त संक्षेप में यह था:—

जागृत-दृश्य जगत् स्वप्न जगत् से किसी प्रकार भी अधिक सत्यता नहीं रखता । आत्मा स्वयं ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है । सारे अनुभूत पदार्थ आत्मा में इस प्रकार हैं जैसे स्वप्न के सब पदार्थ सोने-वाले ही में हैं । यह सब पदार्थ आत्मा ही की मायाशक्ति द्वारा उत्पन्न होकर आत्मा में ही किञ्चित मात्र स्थित रह कर वहीं लुप्त हो जाता है । जिस प्रकार यद्यपि रस्सीमें सर्प दीखता है तो भी उसकी वास्तविक सत्ता कुछ नहीं तैसे ही इस भासमान जगत् की कोई परमात्मिक सत्ता नहीं है । इत्यादि ।

यह भ्रम केवल जीव ही के साथ सम्बन्ध रखने वाला नहीं वरन् परमात्मा के साथ सम्बन्ध रखनेवाला होना चाहिये । यदि जगत् परमात्मा के ही आश्रित है और उससे अभिन्न है परन्तु उससे भिन्न और अनाश्रित प्रतीत होता है तो हमारा साधारण ज्ञान भ्रम के अतिरिक्त और क्या है । यह भ्रम जीव ने स्वयं तो उत्पादन किया ही नहीं वरन् जीव की सत्ता ही के साथ उसकी सत्ता भी सम्बद्ध है । तो जगत्कर्ता ईश्वर ही के साथ इसका सम्बन्ध होना चाहिये ।

क्या हम किसी वस्तु को जो सदा परिवर्तनशील है और जो दूसरी वस्तु की सत्ता के अधीन है और जिसकी स्वाधीनसत्ता कुछ भी नहीं है सत्य कह सकते हैं ? जगत् में यही गुण वर्तमान है इसलिये इसको सत्य कहना ही ठीक नहीं है ।

यदि हमको वस्तुयें अपने वास्तविक रूप में प्रतीत नहीं होतीं अन्यथा ही प्रतीत होती हैं तो उस शक्ति को जिसके द्वारा यह बात होती है हम माया (ऐन्द्रजालिक शक्ति) के सिवाय और क्या नाम दे सकते हैं ।

यदि ब्रह्म पूर्ण है अखण्ड है और सब कामनाओं से परे है जैसा कि उपनिषद् कहते हैं तो सृष्टि का होना असम्भव है सृष्टि केवल (Change) क्षोभ के कारण से ही हो सकती है । इन दो बातों में विरोध दिखाई पड़ता है । शंकर श्रुति के वचनों में अविश्वास प्रकट नहीं कर सकते । परन्तु श्रुतियों में भी सृष्टि का वर्णन है और यह भी है कि ईश्वर ने सृष्टि करने की इच्छा की । इन आपत्तियों से बचने के लिये शंकर को कोई न कोई मार्ग अवश्य ही निकालना था उन्होंने वास्तव में सृष्टि को इन्कार किया और वेद को विद्याओं में विभक्त किया—परा और अपरा । शंकराचार्य विक्षेप को सत्य नहीं मान सकते क्योंकि विक्षेप पूर्ण ब्रह्म में हो नहीं सकता । जो सर्वदा ही पूर्ण, शुद्ध, अखण्ड और सब न्यूनताओं से परे है उसको कुछ बनने की आवश्यकता ही क्या है परन्तु विक्षेप के अस्तित्व से भी इन्कार नहीं किया जा सकता, प्रत्यक्ष ही हम देख रहे हैं । इसलिये जो वस्तु वास्तविक रूप से सत्य नहीं है और प्रतीत हो रही है उसको श्रुति में रजत् भ्रम के समान कहने के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ?

“अयं आत्मा ब्रह्म” “तत्त्वमसि श्वेतकेतो” इत्यादि महावाक्यों में

यह शिक्षा दी गई है कि आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है परन्तु व्यवहार में तो हम देखते हैं कि प्रत्येक जीव अपने आप को अशक्त, अज्ञानी, अपूर्ण समझता है और नाना प्रकार के दुःख भोग रहा है। श्रुति वचन को असत्य भी नहीं कह सकते। क्या यह बात ठीक इसी प्रकार की नहीं है जैसे की कोई राजा स्वप्न में फकीर बन जाय और यद्यपि वास्तव में उसके घर में अनन्त निधि उपस्थित है तो भी स्वप्न में पैसे पैसे के लिये तरसता फिरे? क्या यह असंभव है कि हमारी व्यवहारावस्था भी स्वप्न की नाई मिथ्या हो?

योगी लोग समाधि में केवल निर्विशेष आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का अनुभव नहीं करते। प्रपञ्च उनको नहीं भासता, शरीर ज्ञान भी उनको नहीं रहता। इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि प्रपञ्च केवल वृत्तियों की क्षोभ की अवस्था ही में भासता है। वृत्तियों के शान्त और निरोध होने पर प्रपञ्च नहीं भासेगा। और जो पुरुष सदा के लिये इस प्रकार आत्मा में स्थित रहे उसके लिये प्रपञ्च कहाँ? यदि प्रपञ्च सत्य होता तो उस समय भी रहता।

सत्य किसे कहते हैं? जो तीनों कालों में एक रस रहे। केवल आत्मा ही सत्यवस्तु है। प्रपञ्च नहीं क्योंकि बाह्य प्रपञ्च स्वप्नावस्था में नाश हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि नाश तो नहीं होते केवल हम उनका अनुभव नहीं करते। अच्छा किसी वस्तु का अस्तित्व कैसे जानेंगे। केवल ज्ञान के ही द्वारा। हमारे ज्ञान के अतिरिक्त और कोई साक्षी किसी वस्तु की सत्ता का नहीं हो सकता। इसलिये जिस वस्तु का ज्ञान नहीं उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं दे सकते। इसलिये यही कहना होगा कि बाह्य प्रपञ्च स्वप्न में नहीं रहता, स्वप्न प्रपञ्च भी सुषुप्ति में नहीं रहता। केवल आत्मा ही तीनों अवस्था में वर्तमान रहता है और सब किसी किसी समय में

रहते हैं। इसलिये आत्मा ही सत्य और सब कुछ मिथ्या है।

परिणामवाद में भी कटिनाई मालूम पड़ती है। यदि जगत् का ब्रह्म का परिणाम मानें तो ब्रह्म की भी वही दशा होनी चाहिये जो कि दूध की जबकि वह दही में परिणत होता है। दही तो अवश्य बन जाती है परन्तु दूध अपने रूप में नहीं रहता। ब्रह्म की भी, जो कि जगत् का उपादानकारण है, वही दशा होनी चाहिये। परन्तु उपनिषदों में यह भी लिखा है कि वह एक रस अविकारी और पूर्ण है। दूध तो वस्तु तत्त्व नहीं है, वह भी दही की नाई किसी एक ही वस्तु-तत्त्व का नाम तथा रूप है। यदि उस वस्तु तत्त्व का विचार करें तो वह दोनों (दूध, दही) नामरूप में एक समान ही है। वह नहीं बदलता, केवल उसके आधार पर एक नाम रूप के बजाय दूसरा नाम रूप खड़ा हो गया। क्या ठीक यह हाल इसी प्रकार नहीं जिस प्रकार की रस्सी में जो एक रस रहती है, सर्प नामरूप वाली कोई वस्तु उदय और अस्त हो जाये? इन नामरूपों वाले विकारशील पदार्थों से अधिष्ठाता को क्या क्षति होती है? क्योंकि ये* नामरूप बदलते हैं, इसलिये उनकी सत्ता क्षणिक आत्मा की सत्ता की नाई तीनों काल में स्थिर नहीं है, इसलिये यह मिथ्या है। इसलिये जगत् ब्रह्म का विकार नहीं माना जा सकता वरन् विवर्त ही माना जायगा।

यदि जगत् विवर्त रूप है और ब्रह्म उसका आधार है तो क्या इसकी उपमा मायाकृत प्रपञ्च तथा मायावी से नहीं दी जा सकती।

ब्रह्म और जीव एक ही हैं, परन्तु ब्रह्म जगत् रूपी विवर्त से लिप्त नहीं होता। किसी प्रकार की क्षति उसको नहीं होती और जीव प्रपञ्च को सत्य समझ कर इसमें लिप्त होकर दुःखी होता है तो

* Thing in itself or the underlying unchanging reality.

क्या इस बात की उपमा मृगतृष्णा के जल को देखकर दौड़ने वाले मृग से नहीं दी जा सकती ? अथवा उस पुरुष से जो रस्सी में सर्प को देख कर भयभीत हो रहा है ।

इस प्रकार के विचार हैं जो मायावादी शंकर के मन में, जब वे उपनिषदों का अध्ययन करते थे, उठे होंगे । यह विचार आज भी उपनिषदों को समझते समय उठ सकते हैं । हमारा स्वतन्त्र मत तो यह है कि उपनिषदों में मायावाद स्पष्टरूप से नहीं है । परन्तु शंकर अपने समझ में उपनिषदों के सिद्धान्तों को सिवाय मायावाद के माने हुये अविरुद्ध* नहीं दिखा सकते थे । मायावाद का विकास होना बिना बौद्ध विज्ञानवाद के पूर्णरूप से समझे कठिन था । यदि सच कहा जाय तो शंकराचार्य का मायावाद = औपनिषद् ब्रह्मवाद + बौद्ध-विज्ञानवाद + गौड़पाद—अद्वैतवाद + शंकर के स्वतन्त्र विचार । हम विज्ञानभिक्षु की नाईं यह नहीं कहते की शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध था और न हम दासगुप्त की नाईं यह मानते हैं कि गौड़पादाचार्य बौद्ध थे (जैसा कि उन्होंने भारतीय दर्शन के इतिहासों में प्रमाणित किया है) परन्तु यह अवश्य ही हमारा मत है जैसे मुकुल बिना फूल और फल का आना असम्भव है, इसी प्रकार गौड़पाद के अद्वैतवाद तथा श्री शंकराचार्य के मायावाद रूपी पुष्प और फलों का भारतीय दर्शनरूपी वृक्ष पर बौद्ध दर्शनरूपी मुकुल के खिले बिना असंभव था ।

यह भी माना जा सकता है कि शंकराचार्य का मायावाद बीजरूप से उपनिषदों में है परन्तु इसके कहने से अर्थ कुछ नहीं है । जो बात

*Self consistent,

† *A History of Indian Philosophy* recently published Therien the author in his Chapter on Shankara Vedanta tries to prove on the evidence of the *Karikas on Mandukyopanishad* that Gaudapada was a Buddhist.

पुष्प में होती है वह बीज में शक्तिरूप^० से चाहे कैसे ही वर्त्तमान हो इससे क्या ? बीज बीज ही होता है, पुष्प और फल, पुष्पफल ही होते हैं । बहुधा ऐसा होता है कि हम दो बीजों को सर्वथा एकसा समझते हैं, परन्तु पुष्प और फल दोनों सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं ।

(४)

✓ (इन बातों से हम शंकर को केवल भाष्यकार ही नहीं समझते वरन् एक बड़ा भारी दर्शनज्ञ, अथवा पृथ्वीमण्डल के बड़े बड़े दार्शनिक पण्डितों में से एक समझते हैं ।) यह दिखाने से पहले कि शंकराचार्य का मायावाद आजकल कहीं तक युक्तिसङ्गत है हम यह दिग्दर्शनमात्र से दिखाते हैं कि शंकराचार्य के आधार पर ही मायावाद से कितने मत फैले ।

श्री शंकराचार्य जी ने—जैसा कि प्रत्येक बड़े विचार वाले पुरुष के साथ होता ही है—बहुत सी बातें संदिग्धरूप में छोड़ दी थीं क्योंकि उन्होंने भाष्य लिखते समय केवल प्रसङ्गवश बातों का विचार किया है । दर्शनरूप में स्वतन्त्र संकलावद्ध विचार नहीं किये । बहुत से दृष्टान्त दिये जो केवल अवसरोचित बात समझते थे, जीव, ईश्वर, माया का क्या सम्बन्ध है । जीव कितने हैं सृष्टि इत्यादि क्या है । इन बातों को उनके मतानुयायी एक दूसरे से प्रतिकूल विचार करते थे, यह सब विचार सिद्धान्तलेख में संकलित हैं । उनमें से कुछ को हम बहुत संक्षेप से बिना गुण दोष बताये यहाँ पर दर्शाते हैं :—

एक मत यह है कि अनिर्वचनीय माया में जो कि चेतन का प्रतिबिम्ब है उसका नाम तो ईश्वर है । और माया में आवरण विक्षेप शक्ति वाले जो कि परिच्छिन्न अनन्त प्रदेश हैं उन्हीं का नाम अविद्या

० Potentially.

है। उन प्रदेशों में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है उसका नाम जीव है, प्रदेशों के अनन्त होने से जीव भी अनन्त हैं।

तत्त्वविवेक (पञ्चदशी) कार का मत है कि त्रिगुणात्मिका एक मूलप्रकृति है। वह मूलप्रकृति आप ही माया और अविद्या रूपोंवाली हो जाती है, और एक ही चेतन को जीव और ईश्वर दो रूपोंवाला कर देती है, शुद्ध सत्त्वगुण प्रधान वही प्रकृति माया कहलाती है। और मलिन सत्त्व प्रधान वही प्रकृति अविद्या कहलाती है। उस माया में जो चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका नाम ईश्वर और अविद्या में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसका नाम जीव है।

अपर मत:—एक ही मूल प्रकृति विक्षेप प्रधानता से माया और आवरण शक्ति प्रधानता से अविद्या कही जाती है। माया ईश्वर की उपाधि है और अविद्या जीव की उपाधि है और विम्बरूप साधारण चेतन के वह आश्रित भी है तथापि 'अज्ञोऽहं' (मैं अज्ञानी हूँ) ऐसा जीव को ही अनुभव होता है, ईश्वर को नहीं होता, क्योंकि जीव की उपाधि में ही आवरण—विक्षेपशक्ति है। ईश्वर की उपाधि में नहीं है।

संक्षेप शारीरककार का मत:—अविद्या में चेतन के प्रतिबिम्ब का नाम ईश्वर है और अविद्या का कार्य जो अन्तःकरण है उसमें प्रतिबिम्ब का नाम जीव है ईश्वर की उपाधि अविद्या भिन्न है और जीव की उपाधि अन्तःकरण भिन्न है। दोनों उपाधियों के भेद होने से ही जीव ईश्वर का भेद है। अविद्या एक ही है इसलिये ईश्वर भी एक है। अन्तःकरण अनन्त है इसलिये जीव भी अनन्त है।

अवच्छेद वादी का मत:—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन का नाम जीव है, अन्तःकरणानवच्छिन्न चेतन का नाम ईश्वर है।

अपर मत:—न तो प्रतिबिम्ब रूप जीव है और न अवच्छेद रूप ही जीव है, किन्तु जैसे करण को सूत पुत्र का भ्रम हुआ था कि मैं सूत पुत्र हूँ, और अपने को सूत पुत्र करके मानता था और वह वास्तव में सूत पुत्र नहीं था तैसे अवच्छेद और प्रतिबिम्ब भाव से रहित ब्रह्म को अनादि अविद्या के सम्बन्ध से अपने में जीवत्व का भ्रम हुआ है और अपनी अविद्या के कारण जीव भाव को प्राप्त जो ब्रह्म है उसी ने सर्व प्रपञ्च की कल्पना की है। जैसे और सम्पूर्ण जगत् की उसने कल्पना की है तैसे सर्वज्ञत्वादि धर्मों वाले ईश्वर जीव करके ही कल्पित है। जैसे स्वप्न में जीव सर्वज्ञत्वादि गुणों से विशिष्ट ईश्वर की कल्पना करके उसकी उपासना करता है और कल्पित उपासना से कल्पित फल को प्राप्त होता है तैसे ही जाग्रत में भी जीव ईश्वर की कल्पना करके कल्पित फल को प्राप्त होता है। वास्तव में जीवत्व ईश्वरत्व दोनों धर्म चेतन में कल्पित हैं। एक चेतन धर्म ही सत्य है।

एक जीववाद और अनेक जीववाद में कई मत हैं:—

एक जीववादी कहता है :—एक ही शरीर सजीव है। शेष सब शरीर स्वप्न के शरीरों की तरह निर्जीव हैं। इसलिये जीव एक ही है—नाना जीव नहीं। जैसे स्वप्न काल में स्वप्न के दृष्टा की दृष्टि से स्वप्नकल्पित जीव सब चेष्टा वाले प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वे सब निर्जीव ही हैं। जैसे स्वप्न का कल्पक निद्रा है वैसे ही जाग्रत का कल्पक अज्ञान है। जैसे जब तक निद्रा नाश नहीं होती तब तक स्वप्न का सर्व व्यवहार होता है तैसे ही जब तक आत्मज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश नहीं होता। तब तक जाग्रत का भी सर्व व्यवहार होता है।

एक जीववाद में अपरमत:—ब्रह्म का प्रतिबिम्ब रूप हिरण्यगर्भ ही

मुख्य एक जीव है वही हिरण्यगर्भ भौतिक प्रपञ्च का कर्त्ता है उसी को कारणोपाधि भी कहा है। उस हिरण्य गर्भ एक जीव के और सब जीव प्रतिबिम्ब रूप हैं और जैसे पट पर लिखे हुए चित्र में मनुष्यों के शरीर हैं। उनको पहनाये हुए जो पटाभास हैं उनके समान यह सब जीव भी जीवाभास रूप हैं और वह सब जीवाभास रूप ही संसारी जीव हैं। जैसे हिरण्यगर्भ का शरीर मुख्यजीव होने से सजीव है वैसे ही दूसरे शरीर भी जीवाभास होने से सजीव हैं।

और एक जीववादी का मतः—अविद्या में जो कि चेतन का प्रतिबिम्ब है सोई जीव है। अविद्या के एक होने से वह जीव भी एक ही है। वह एक ही जीव भोग के लिये समस्त शरीरों का आश्रय लेता है उसी एक जीव के प्रतिबिम्ब रूप ही और सब जीव हैं। उन्ही प्रतिबिम्बाभास रूप जीवों से और सब शरीर जीवाभास रूप हैं।



क्योंकि अन्तःकरण अनेक हैं इसलिये अन्तःकरण उपाधि वाले जीव भी अनेक हैं। अन्तःकरणों का उपादान कारण जो मूल अज्ञान है वह एक है। वह अज्ञान शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है और उसको विषय करता है। उस अज्ञान की निवृत्ति का नाम ही मोक्ष है। वह मूल अज्ञान-सांश है। अन्तःकरण रूपी उस अज्ञान के अंश हैं। जिस अंश में ज्ञान होता है उसी अंश की निवृत्ति होती है। दूसरे अंशों की नहीं।

जीव चेतन का जो कि अज्ञान से सम्बन्ध है सो ही बन्ध है। और अज्ञान के सम्बन्ध के नाश का नाम ही मुक्ति है। अज्ञान की निवृत्ति का नाम मुक्ति नहीं है। केवल अज्ञान के सम्बन्धाभाव मात्र से ही बन्ध की निवृत्ति होती है। यदि ऐसा नहीं मानोगे तो मूल अज्ञान का विरोधी जो ज्ञान इसके उदय होने से जैसे अग्नि के सम्बन्ध से रूई

का पिण्ड समग्र जल जाता है वैसे ही ज्ञान के सम्बन्ध से भी समग्र अज्ञान भस्म हो जायगा। तब फिर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था भी नहीं बनेगी।

जीव अज्ञान का आश्रय है विषय नहीं है। शुद्ध ब्रह्म अज्ञान का विषय है आश्रय नहीं है। अज्ञान के अंश रूप अन्तःकरण अनन्त हैं इसलिये उसमें प्रतिबिम्ब रूप जीव भी अनेक हैं। जैसे एक ही जाति अनेक व्यक्तियों में रहती है वैसे ही एक अज्ञान अनेक जीवों में रहता है। जिस अन्तःकरण में ज्ञान की उत्पत्ति होती है ज्ञान द्वारा उसी अन्तःकरण की निवृत्ति होती है। अन्तःकरण की निवृत्ति होने पर प्रतिबिम्ब भी अपने बिम्ब में लय हो जाता है उसी समय अज्ञान भी उस उपाधि को त्याग देता है—वही मोक्ष है।

अविद्या अनेक है उससे उत्पादित जीव भी अनेक हैं जिस जीव की आत्मविद्या द्वारा अविद्या निवृत्ति होती है वही मुक्त हो जाता है। जिसको अविद्या निवृत्ति नहीं होती उसके लिए बन्ध ही बना रहता है। अविद्या के नाश होने पर उसके नाश के संस्कार बने रहते हैं इसलिए जीवनमुक्ति होती है। विदेहमुक्ति में वे संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं।

अनेक जीववादियों के मतानुसार प्रपञ्च कैसे रचा गया? जैसे अनेक तन्तुओं से एक पट रचित है। तैसे ही सब जीवों की अविद्या का परिणाम प्रपञ्च है। अथवा सम्पूर्ण अविद्याओं का विषय जो ब्रह्म है उसका विवर्त प्रपञ्च है जैसे एक तन्तु के नाश हो जाने से पट का नाश नहीं हो जाता तैसे एक के मुक्त हो जाने से उसकी अविद्या के नाश होने पर भी प्रपञ्च का नाश नहीं होता। एक तन्तु के नाश-काल में विद्यमान और तन्तुओं से पट की तरह और सब जीवों की सब अविद्या से साधारण प्रपञ्च बना रहता है।

सम्पूर्ण अविद्याओं का कार्य जो प्रपंच है सो अविद्या के भेद से प्रत्येक जीव के प्रति प्रपंच भिन्न भिन्न है और स्व स्व अविद्याकृत प्रपंच भी जीव जीव का भिन्न भिन्न है। यद्यपि जहाँ पर एक काल में बहुत से पुरुषों को शुक्ति में रजत का भ्रम हुआ वहाँ पर सर्व पुरुषों के सर्व अज्ञानों से एक एक रजत की उत्पत्ति बनती है इससे तो यह सिद्ध हुआ कि जीव जीव के अज्ञान के भेद से अज्ञान कृत रजत का भेद भी कहना पड़ता है। तथापि वहाँ पर दैवयोग से एक पुरुष को शुक्ति के ज्ञान सहित अज्ञान उपादान रजत के नाश होने पर भी दूसरे पुरुष को रजत का भ्रम बना ही रहता है। इसलिए वहाँ पर रजत का भेद अवश्य मानना पड़ेगा। जैसे शुक्ति के अज्ञान से शुक्ति के रजत का भेद है अर्थात् अपनी अपनी रजत भिन्न भिन्न शुक्ति के अज्ञान से रची हुई है तैसे ही जीव जीव का प्रपञ्च भी अपना अपना भिन्न ही भिन्न रचा हुआ है। एक नहीं है। और जैसे एक पुरुष से दूसरा पुरुष वहाँ पर कहता है कि शुक्ति जो रजत में रजत तुमने देखा है यह प्रतीति भी भ्रममात्र है। तैसे ही जो घर तुमने देखा है यह प्रतीति भी भ्रममात्र है।

गगनादि प्रपंच जीव की अविद्या का परिणाम नहीं है। किन्तु जीवाश्रित जो अविद्या है, उस अविद्या के समूह से भिन्न जो माया है सो सब जीवों के साधारण प्रपंच का परिणामी उपादान है। वह माया ईश्वर के आश्रित है और उस माया का कार्य प्रपंच भी एक ही है इसी से एकत्व प्रतीति सब की भ्रम रूप एक ही है।

(५)

इस प्रकार के सिद्धान्त यदि दार्शनिक भाव से देखे जायें तो अवश्य ही बहुत उच्च और सूक्ष्म जँचेंगे। परन्तु सर्वसाधारण को पसन्द आने वाले नहीं हैं। (संसार में बहुत कम पुरुष ऐसे होते हैं जो इतनी उच्च

कोटि के विचारों के उपर अपने जीवन को ढालें) बहुधा मनुष्य के भाव ऐसे नहीं हुआ करते। (इसलिये उन पुरुषों को जो कि ईश्वर, धर्म, कर्म और उपासना में विश्वास करते थे, ये भाव अच्छे नहीं लगे। बहुत से आचार्यों ने इस मायावाद का विरोध करके ऐसे मत चलाये जो कि लोगों की समझ में आ जायें और कर्म उपासना या भक्ति की ईश्वर-ज्ञान का मुख्य अंग मानें) मायावाद के विरोध करने वालों में श्री रामानुजाचार्य प्रधान हैं उन्होंने ब्रह्मसूत्र के श्री भाष्य में मायावाद के विरुद्ध सात आक्षेप किये हैं:—

प्रथम आक्षेप रामानुज यह करते हैं कि माया (अविद्या) का कोई आश्रय नहीं निश्चित किया जा सकता। और जिसका कोई आश्रय नहीं है उसको हम कैसे मानें ? माया का आश्रय कौन वस्तु है जिसमें रहकर यह भ्रम को उत्पादन करती है। क्या जीव है ? जीव कैसे हो सकता है ? वह तो स्वयं ही मायाकृत है। जीवत्व मायावादियों के मतानुसार अविद्या कल्पित ही है। अविद्या का आधार कैसे कहा जा सकता है। फिर यह अविद्या ब्रह्म के आश्रित भी नहीं रह सकती। ब्रह्म का स्वरूप तो स्वयं ज्ञान है। भला ज्ञान अविद्या का आश्रय कैसे हो सकता है। उनमें तो पूर्ण विरोध है। (इस आक्षेप का नाम 'आश्रयानुपपत्ति' है)

यह उक्ति कि अविद्या ने ब्रह्म के स्वरूप को तिरोहित कर रक्खा है—जैसा कि मायावादी मानते हैं—तर्क से असंगत है। ब्रह्म का स्वरूप तो प्रकाशात्मक ज्ञान-मात्र है। प्रकाश के तिरोधान करने का अर्थ क्या है ? दो बातों में से एक ही हो सकती है। या तो प्रकाश की उत्पत्ति को रोक देना, या विद्यमान प्रकाश को नष्ट कर देना। मायावादियों के मतानुसार तो ज्ञान की, जो कि ब्रह्म का स्वरूप है, उत्पत्ति तथा नाश कभी होता नहीं, वह तो सदा एक रस निर्विकार

है यदि तिरोधान का अभिप्राय प्रकाश के नाश से है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि अविद्या ब्रह्म के स्वरूप ज्ञान को नष्ट ही कर देती है। यह भी आप नहीं मानते। (इस आक्षेप का नाम “तिरोधान्य-उपपत्ति है”।

अच्छा अविद्या का स्वरूप क्या है? भावरूप अथवा अभाव रूप ? क्योंकि जगत् की वस्तु जात इन्हीं दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं। सब भाव रूप वस्तुयें पारमार्थिक सत्ताही रखती हैं। क्यों असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। मायावादी अविद्या को पारमार्थिक सत्ता नहीं देते क्योंकि उनके मत में तो केवल एकमात्र शुद्ध, निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है। और शेष मिथ्या और असत्य है। यदि अविद्या ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्य वस्तु नहीं है तो ब्रह्म में प्रपंच रूप भ्रम का उत्पादन करने वाला दोष कहाँ है। हम देखते हैं कि भ्रम उत्पन्न होने के लिये सत्य दोष की आवश्यकता हुआ करती है। यदि भ्रमोत्पादक दोष ब्रह्म ही का स्वरूप है तो क्योंकि ब्रह्म नित्य है इसलिये दोष जनित प्रपंच का भ्रम भी नित्य ही होना चाहिये। और जीव के लिये मोक्ष असम्भव हो जायगा (यह “स्वरूपानुपपत्ति” कहलाता है)

मायावादी कहते हैं कि अविद्या अनिर्वचनीय है। अनिर्वचनीयत्व का अभिप्राय यदि सत् और असत् दोनों से विलक्षण कोई पदार्थ होता है तो ऐसे पदार्थ की कल्पना भी नहीं हो सकती। वर्तमान होना तो दूर रहा। जितने पदार्थों का हमें ज्ञान है वे सब या तो सत् हैं या असत् इसके अतिरिक्त किसी अनिर्वचनीय पदार्थ की हमें प्रतीति नहीं हो सकती। हमारी प्रतीति या तो सदाकार वस्तु को विषय करती है अथवा असदाकार को। यदि हमारी प्रतीति का

विषय कोई सत्-असत् से अनिर्वचनीय पदार्थ हुआ तो सब वस्तुयें सब ज्ञान के विषय हो जाया करें (यह आक्षेप अनिर्वचनीयानुपपत्ति कहलाता है) ।

ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि जिसके द्वारा अविद्या का ज्ञान सिद्ध हो सके । प्रत्यक्ष और अनुमान तथा श्रुति इन तीनों प्रमाणों द्वारा किसी सदसद निर्वचनीय अविद्या का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता । रामानुजाचार्य यहां पर उन सब प्रमाणों की जो शांकर मतवालों ने अविद्या के अस्तित्व को सिद्ध करने में दिये, परीक्षा करते हैं और दिखाते हैं कि इनमें से कोई ठीक नहीं है ।

मैं अज्ञ हूँ यह अनुवभ अज्ञानरूप किसी भावरूप वस्तु का सूचक नहीं है वरन् आत्मा के ज्ञान के प्रागभाव ही को सूचित करता है । ब्रह्म को भावरूप अज्ञान का अनुभव कदापि नहीं होता । अनुमान में भी कोई भावरूप अज्ञान वस्तु सिद्ध नहीं होता । भ्रम में भी असत् वस्तु का ज्ञान नहीं होता वरन् सत् वस्तु ही की समस्त भ्रमों में सत्ख्याति ही है । स्वप्न, द्विचन्द्रज्ञान तथा पित्तादि सब भ्रम सत्ख्याति को ही सूचित करते हैं । श्रुति में भी शांकर मायावाद नहीं है । “अनृतेन हि प्रत्यूढाः” (६।८।३।८) इत्यादि श्रुतियों में अनृत शब्द अनिर्वचनीय अविद्या (माया) का द्योतक नहीं वरन् अनृत शब्द का अर्थ संगयुक्त सांसारि पदार्थों में इच्छा रखकर किया हुआ कर्म है “नासदासीन्नोसदासीत्तदानीम्” (तै० ब्र० २।१।१।३।) इत्यादि श्रुतियों में सत् और असत् शब्द व्यष्टिरूपचित् और अचित् के अर्थ में प्रयुक्त हैं । असत् का अर्थ केवल अव्याकृत, अव्यक्त प्रकृति-का है । सदसदनिर्वचनीया माया (जैसे कि शांकर मतवाले समझते हैं) की सूचना नहीं है श्रुति (श्वे० उ० ४।१०) में मायाशब्द प्रकृति केलिये

ही प्रयुक्त है परन्तु माया का अर्थ केवल विचित्र सृष्टि करने वाली है। प्रकृति का नाम माया इसलिये पड़ा कि इस से विचित्र सृष्टि होती है। माया शब्द का अर्थ मिथ्या कभी नहीं होता। गीता और पुराणों में भी मायावाद सिद्ध नहीं होता। (इस आक्षेप का नाम “प्रमाणानुपपत्ति” है)

निर्विशेष और निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती। श्रुति का सिद्धान्त यह है कि ब्रह्म सकल उपादेयगुण विशिष्ट ही है और सविशेष ब्रह्म ही के उपासनात्मक ज्ञान से मोक्ष मिलता है। “तत्त्वमसि” इत्यादि महावाक्यों का अभिप्राय निर्विशेष वस्तुओं की एकता नहीं है। ‘तत्’ शब्द का अर्थ सर्वज्ञ, सत्संकल्प जगत्कारण ब्रह्म है और ‘त्वं’ पद चित्-अचित्-विशिष्ट-जीव शरीर वाले ब्रह्म का वाचक है। एक ही ब्रह्म दो प्रकारों में स्थित होने के कारण यह सामानाधिकरण्य किया गया है। महावाक्यों का अभिप्राय किसी अज्ञान कल्पित भ्रम को बाध करना नहीं है किन्तु यह है कि एक ही ब्रह्म दो प्रकार से स्थित है। समस्त जगत् ईश्वर का शरीर है और ईश्वर सबका अन्तर्यामी है। ईश्वर सविशेष है इस लिये निर्विशेष ईश्वर का ज्ञान मोक्षदायक नहीं हो सकता (यह आक्षेप “निवर्त्तकानुपपत्ति” कहलाता है)।

अनादि अविद्या जो कि विविध कर्मों के संस्कार से जनित तथा घनीभूत है वह केवल ज्ञान से ही कैसे निवृत्त हो सकती है ? (केवल शुभकर्म और परमात्मा की उपासना और भक्ति द्वारा प्राप्त ईश्वरानुग्रह से ही अविद्या का नाश होकर मोक्ष मिलता है) (२) मायावादियों के मत में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय सब ही मिथ्या हैं। मिथ्या ज्ञान से क्या माया की निवृत्त हो सकती है ? यह मिथ्या ज्ञान भी किसी दूसरे ज्ञान से दूर होना चाहिये और वह किसी अपर ज्ञान से। इस प्रकार

अनवस्था का दोष आ जायगा। मायावाद के अनुसार अविद्या नष्ट होने पर ज्ञाता का स्वयं भी नाश हो जाता है तो भला ऐसा कौन कर्त्ता होगा जो अपने नाश के निमित्त ही कर्म करेगा (इस आक्षेप का नाम “निवृत्यनुपपत्ति” है)।

यहाँ तर्क संक्षेप रूप से रामानुजाचार्य के श्रीभाष्य से लेकर उपस्थित किया गया है। मायावाद का खण्डन इससे अधिक और किसी ने नहीं किया। अब तक मायावाद के ऊपर जितने आक्षेप हैं वे प्रायः इन्हीं सातों आक्षेपों के अन्तर्गत हो जाते हैं। इन आक्षेपों के उत्तर भी मायावादियों की ओर से दिये जा चुके हैं। इसलिये इन आक्षेपों की स्वतन्त्र समालोचना करने के स्थान पर यदि हम इनका प्रत्युत्तर किसी मायावादी का दिया हुआ यहाँ पाठकों के सामने प्रस्तुत कर दें तो अच्छा होगा। डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने मायावाद पर एक पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने रामानुजाचार्य के आक्षेपों का खण्डन क्रम से किया है। उस खण्डन को हम संक्षेप से नीचे लिखते हैं —

प्रथम आक्षेप का आधार रामानुज की दो भूलें हैं। एक भूल तो यह है कि उन्होंने यह समझ लिया है कि माया कोई वस्तु है, इस लिये वे उसका आश्रय पूछते हैं। (अविद्या वस्तुतः कोई चीज नहीं है। विद्या अर्थात् ज्ञान का न होना ही अथवा ज्ञान का प्रतिबन्ध ही अविद्या कहलाता है) जैसे अग्नि लकड़ी में मौजूद है किन्तु उसका ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार हम वास्तव में ब्रह्म ही हैं परन्तु उपाधियों के कारण हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। दूसरी भूल यह है कि वे ब्रह्म और जीव को दो मानकर आक्षेप करते हैं। हमारे मत में जीव और ब्रह्म दो नहीं हैं। शरीर-इन्द्रिय-मन इत्यादि उपाधियों से उद्बृंहित ब्रह्म ही जीव है। यह कहना कि ये उपाधियाँ ब्रह्म को

जीवात्मा तथा परमात्मा दो रूपों में विभक्त कर देती हैं केवल अलंकारमात्र है। अच्छा हम से यदि यह प्रश्न किया जाय कि अविद्या का आश्रय क्या है तो हमारा उत्तर है कि अविद्या का आश्रय उपाधियाँ हैं।

दूसरी आशंका करते हुये भी रामानुजाचार्य मायावाद को ठीक नहीं समझते। अज्ञान कोई सदात्मक भावरूप^१ वस्तु नहीं है जो कि वस्तुतत्त्व का तिरोधान कर सके। अज्ञान (अविद्या, माया) केवल न्यूनता तथा अभाव बोधक हैं। हमारा आत्मा (ब्रह्म) सदैव स्वयं ज्योतिः नित्य प्रकाश स्वरूप है परन्तु हमको इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, इसी बात का नाम अज्ञान तथा अविद्या है।[✓] अज्ञान केवल ब्रह्मत्वभाव के ही ज्ञान को तिरोहित करता है। ब्रह्म को वह किसी भी प्रकार तिरोहित नहीं कर सकता। और न उसके प्रकाश को ही नष्ट कर सकता है। यदि रामानुज कान्ट (जर्मनी का बड़ा दर्शनज्ञ) से प्रश्न करें "वस्तुतत्त्व" हमारी दृष्टिगोचर क्यों नहीं होता? तो कान्ट यह उत्तर देगा "क्योंकि वस्तुतत्त्व और हमारे बीच में दिक्काल निमित्त रूप मानसिक संस्कार (उपाधियाँ) वर्तमान हैं"। ठीक इसी प्रकार का हमारा उत्तर है:—ब्रह्म के स्वयं प्रकाशत्व को तो अविद्या कुछ भी हानि नहीं पहुँचाती केवल हमको उस स्वयं प्रकाशत्व के अपरोक्ष रूप से अनुभव करने से रोकती है।

तीसरी आपत्ति भी तुच्छ है। हम माया को वास्तव में अर्थात् परमार्थ दृष्टि से नहीं मानते। परन्तु हम यह नहीं कहते कि व्यवहार में भी यह असत्य हैं। व्यवहार में तो माया को हम भी सत्त मानते हैं। यह हम कब कहते हैं कि जगत् व्यवहार में नहीं है। रामानुज

^१ डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री माया को भावरूप नहीं मानते परन्तु वेदान्तसारकार सदानन्द के मत में माया भावरूप है।

के तर्क-जाल में हम नहीं फँस सकते। रामानुजाचार्य का यह प्रश्न ही कि माया क्या है अति प्रश्न है। संसार में प्रत्येक वस्तु का कारण हम पूछ सकते हैं। माया में ही प्रश्न हो सकता है। परन्तु इस निमित्तात्मक प्रश्न के द्वारा हम प्रपंच अर्थात् माया के बाहर नहीं जा सकते। यदि ऐसा करेंगे तो विरुद्ध तर्कों (Antinomies) के जाल में फँसे रह जायेंगे। और तत्व का पता नहीं चलेगा। माया अर्थात् प्रपंच में वस्तु मात्र का कारण मालूम हो सकता है परन्तु स्वयं माया का कारण मालूम करना असम्भव बात है (cf, Kant's *Critique of Pure Reason.*)

रामानुज का आक्षेप कि बिना सत्य दोष के भ्रम उत्पन्न नहीं हो सकता, हमको मान्य नहीं है क्योंकि ज्योंही हम ब्रह्म से अन्य दूसरी बात को सत्य मानेंगे, तभी द्वैतभाव आ जायगा और श्रुति प्रतिपादित अद्वैत से विरोध होगा।

चौथे आक्षेप से मालूम होता है कि श्री रामानुज हमारे सिद्धान्त को ठीक नहीं समझते। सत्, असत् साधारण विचार से तो अवश्य ही विरोधी हैं। और इनमें एक ही वस्तु के संयोग में उपयुक्त हो सकता है। परन्तु सदसदनिर्वचनीय कहने से हमारा कुछ अभिप्राय और ही है। माया को हम सत् इसलिये नहीं कहते कि वह आत्मा की तरह सर्व काल में नहीं रहती, ज्ञान होने पर नष्ट हो जाती है। आत्मा, अविनाशी, अविकारी और तीनों काल में रहने वाला ही (केवल) सत् है। माया सर्वथा असत् भी नहीं है। क्योंकि दृश्य है। प्रत्यक्ष रूप से इसके कार्यों का अनुभव कर रहे हैं। यदि बन्ध्या पुत्रवत् सर्वथा असत् ही होती तो कार्य उत्पादन न करती। इसी से तो 'इव' शब्द द्वारा इसका संकेत होता है। केवल यही बात है कि कभी है कभी नहीं है। क्या इसको अनिर्वचनीय नहीं सिद्ध करती ?

जब माया को हम कोई सद्बस्तु ही नहीं मानते तो उसके अस्तित्व का प्रमाण ही हम से क्यों माँगा जाय ? यदि हम उसकी सत्ता मानते तो प्रमाण देने की आवश्यकता थी । इसका प्रत्यक्ष अनुभव बताने के लिये बड़े विशाल तर्क-जाल फैलाने की आवश्यकता नहीं है । अविद्या क्या है ? यह एक स्वयंसिद्ध बात है । अविद्या केवल आत्मा में जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं बाह्य जगत् तथा शरीरादि के गुणों तथा सम्बन्धों के मिथ्यारोप का नाम है । D

शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में रामानुज क्या कहते हैं ? केवल थोड़ी सी श्रुतियों को उद्धृत करके और उनके मनमाने अर्थ करके अनुमान कर लेते हैं कि समस्त श्रुतियों के अर्थ इसी प्रकार लगाये जा सकते हैं । और समझ लिया कि मायावाद का निरास हो गया । जिन श्रुतियों का उन्होंने उद्धरण किया है उनका वे चाहे जैसा अर्थ करें परन्तु इससे मायावाद को क्या क्षति पहुँचती है । इन श्रुतियों के अतिरिक्त और बहुत सी श्रुतियाँ हैं जिनसे रामानुज का अर्थ सफल नहीं होता याज्ञवल्क्य सम्बन्धी श्रुतियों का रामानुज क्या अर्थ करेंगे ?

जब यह बात श्रुति-सिद्ध है कि वास्तव में एक अद्वितीय परब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । और यह कि वह परम ब्रह्म ही हमारा आत्मा है । फिर भी हम यदि यही अनुभव करें कि हम ब्रह्म नहीं हैं और ब्रह्म से अन्य कोई वस्तु है और यह समस्त प्रपञ्च जिसमें हम विचरते हैं स्वयं सत्य है तो बताइये कि इस हमारे अनुभव में तथा वास्तविक सत्यता में जो भेद है उसका क्या कारण है ? क्या यह अद्भुत घटना नहीं है ? सिवाय उसके कि यह सब हमारा अज्ञान, हमारा मिथ्यारोप है ; और यही अद्भुत अविद्या माया है, हम और क्या कह सकते हैं ?

छटे आक्षेप का सारा आधार इस बात पर है कि परम ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष नहीं है । श्री रामानुज इस बात को बहुत से श्रुति

वचनों द्वारा प्रतिपादित करते हैं। परन्तु यदि आप यह कहें कि बहुत सी श्रुतियाँ ऐसी हैं जो ब्रह्म को सगुण तथा सविशेष रूप से वर्णन करती हैं तो हम भी यही कहते हैं कि बहुत से श्रुति वचन ऐसे हैं जो ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष कहते हैं। यदि दोनों प्रकार की श्रुतियाँ अन्योन्य विरोध करें तो श्रुति का सच्चा अभिप्राय कैसे जानें ? यह प्रश्न केवल शंकराचार्य के न्याय से श्रुति सिद्धान्त के समझने से ही हल हो सकता है। उनके महत्वपूर्ण न्याय द्वारा देखा जाय तो ठीक समझ में आ जायगा कि जो श्रुतियाँ ब्रह्म को सगुण, सविशेषरूप से वर्णन करती हैं वे सब अपर विद्या के अन्तर्गत हैं; परा विद्या के अन्तर्गत केवल वही श्रुतियाँ हैं जो वस्तु तत्वरूप ब्रह्म का वर्णन करती हैं व्यवहार से हम ब्रह्मको सगुण समझ सकते हैं परन्तु वास्तव में वह निर्गुण ही है।

श्री रामानुजाचार्य कृत “तत्त्वमसि” इत्यादि महावाक्यों का अर्थ भी बिना अविद्या के माने युक्तिसंगत नहीं हो सकता। यह कहना कि एक ही ब्रह्म दो विरुद्ध प्रकारों में स्थित है युक्ति विरुद्ध होगा जब तक हम उन दो प्रकारों में से एक को असत्य, मिथ्या, तथा मायाकृत नहीं मानेंगे। चित्, और अचित् दो विरोधी गुण हैं। दोनों ब्रह्म के सत्य प्रकार नहीं हो सकते। संसार को परमात्मा का शरीर कहना केवल अलंकार मात्र है। परमात्मा को समस्त हेयगुण विशिष्ट मानने से, संसार को सत्य मानने से, संसार के अधर्म, दोष इत्यादि का किस प्रकार समाधान हो सकेगा ?

हमारा कर्मबन्धन आत्मज्ञान के उदय होने पर्यन्त निःसन्देह ही सत्य प्रतीत होता है। अन्य वस्तुयें भी सत्य प्रतीत होती हैं और व्यवहारावस्था में वे सत्य ही कही भी जा सकती हैं। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिये कि वे वास्तव रूप से असत्य ही हैं। मायावाद के अनुसार

उस पुरुष को जिसने अपने ब्रह्मत्व का अपरोक्षरूप से अनुभव कर लिया है कर्मपाश बद्ध नहीं कर सकता। ऐसा मनुष्य निरिच्छ, निःसङ्ग होने के कारण कोई बन्धनजनक कर्म नहीं करता। कर्म नियम केवल व्यावहारिक संसार में लागू होते हैं, वे ब्रह्म-ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते अतएव मोक्ष के साधन नहीं हो सकते। कर्म स्वयं नाशवान् है। उससे नित्यज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

कर्म और उपासना का मार्ग केवल उन लोगों के लिये विहित है जो दार्शनिक विचार में समर्थ नहीं हैं। अनुग्रह मार्ग का विचार ऊँचा विचार नहीं है। जब तक पूर्ण एकीभाव न हो तब तक अनुग्रह भी संभव नहीं है। ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य ज्ञान के बिना मोक्ष असम्भव है। ज्ञान विहीन कर्म और उपासना हमको उस आदर्श तक नहीं पहुँचा सकते।

ज्ञाता, ज्ञेय का भेद पारमार्थिक दृष्टि से वस्तुतः असत्य है, परन्तु हमारे व्यवहार में सत्य ही है, इसको कोई इनकार नहीं करता। दर्शन का यह अभिप्राय नहीं है कि हमारे व्यवहार की दशा में खलबली डाले। अविद्याबाधक ज्ञान मिथ्या नहीं है क्योंकि मिथ्या ज्ञान अविद्या का बाध नहीं कर सकता। स्थूल दृष्टि से जिसे हम ज्ञान कहते हैं अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध वह अविद्या को दूर करने वाला नहीं है। ब्रह्मज्ञान में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है। “विज्ञातरमरे केन विजानीयात्”—याज्ञवल्क्य।

(६)

इन सब भगड़ों से मुँह मोड़कर हमको युक्ति द्वारा यह देखना है कि मायावाद का दर्शन-संसार में क्या स्थान है क्योंकि आजकल शब्द प्रमाण अथवा आप्तप्रमाण की गुंजर नहीं, केवल जो बातें युक्ति द्वारा सत्य प्रतीत होती हैं वह सत्य समझी जाती हैं, इसलिये हमें

सरसरी तौर से यह देखना है कि हम युक्ति द्वारा मायावाद अर्थात् "ब्रह्मसत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मानाऽपरः" को कहां तक दूसरे सिद्धान्तों के मुकाबिले में ठीक मान सकते हैं। संसार के सब दर्श-वस्तुतत्त्व की गिनती के अनुसार केवल चार प्रकार के ही हो सकते हैं:-

- (१) जड़द्वैतवादी (२) द्वैतवादी (प्रकृति तथा पुरुष (Matter and Mind) (३) नानात्ववादी (प्रकृति जीव और ईश्वर) (४) चैतन्याद्वैतवादी ।

प्रथम विचार से तीन वस्तुतत्त्व मानने वालों के सिद्धान्त को देखिये। ईश्वर, नाना जीव, और प्रकृति (Matter) ये तीनों प्रकार की वस्तुयें यदि एक दूसरी से सर्वथा स्वतन्त्र और असम्बद्ध हैं तो उनमें परस्पर मिलकर कार्य करने की प्रेरणा कैसे होगी। तीनों स्वाधीन होने के कारण एक दूसरे से नियमित नहीं हो सकती। इनको काम में प्रवृत्त करने वाली किसी चतुर्थ सत्ता की जिसके ये सब आधीन हों, आवश्यकता है। मायावाद अद्वैत में तो यह कठिनाई नहीं पड़ती क्योंकि वहाँ तो ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों ही मिथ्या हैं केवल ब्रह्म ही सत्य है। लेकिन जहाँ ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों स्वतन्त्र सत्ता वाले हैं वहाँ तो जगत् की रचना भी असम्भव है और वाह्य वस्तु का ज्ञान भी असम्भव है। यह कह देने से भी काम नहीं चलेगा कि तीनों का सम्बन्ध अनादि है क्योंकि जब प्रलय होकर जगत् की रचना होगी तब कठिनाई पड़ेगी। दूसरा प्रश्न यह भी होता है कि ईश्वर ज्ञान स्वरूप है अथवा जड़ है, यदि ईश्वर ज्ञान स्वरूप है तो सर्वव्यापी होना चाहिये और यदि सर्वव्यापी है तो परम सत्ता उसी की रहेगी और सबकी गौण सत्ता होगी और उसकी ही सत्ता के आधीन होगी, क्योंकि हर जगह, प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक अंग में ईश्वर का अस्तित्व ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार

वह वस्तु स्वयं क्या होगी, ईश्वर का ही रूप हो जायेगी। इसके विरुद्ध यदि ईश्वर को परिमित माना तो परिमित वस्तुओं की नाई ईश्वर भी नाशवान् होगा। इसलिये तीन स्वाधीन असम्बद्ध सत्ताओं का मानना युक्ति संगत कदापि नहीं हो सकता। अब द्वैतवाद को लीजिये—द्वैतवाद में प्रकृति और नाना जीव वस्तुतत्त्व माने जाते हैं। जीवों को अवश्य ही ज्ञान स्वरूप मानना पड़ेगा। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न और नाश होने वाली वस्तु नहीं है, इसलिये जीवों को जड़ मानकर उसमें ज्ञान गुण नहीं माना जा सकता। यदि जीव ज्ञान-स्वरूप हैं तो उनको विकार रहित मानना पड़ेगा और सब विकार जड़ प्रकृति ही में मानने पड़ेंगे, जिसमें कि स्वयं एक रूप से दूसरे रूप में अपने को बदलने की शक्ति नहीं क्योंकि प्रकृति जड़ होने के कारण सब कामों में चेतन के ही आधीन है। चेतन ज्ञान स्वरूप होने से अकर्ता है वह तो केवल जान सकता या इच्छा कर सकता है परन्तु प्रकृति स्वयं स्वतन्त्र सत्ता होने के कारण पुरुष की इच्छा से प्रवृत्त क्यों होगी? जीवों को अनन्त मानने में भी युक्ति के विरुद्ध जाना पड़ता है क्योंकि सब जीव यदि ज्ञान स्वरूप हैं तो एक दूसरे से भेद करने वाली क्या वस्तु है? अतएव द्वैतवाद भी युक्ति संगत नहीं है।

अब रह गया एक तत्त्ववाद। अब देखना यह है कि चार्वाक (हेकल) जडाद्वैतवादी की प्रकृति (Matter) ठीक है अथवा वेदान्तियों का चैतन्य। (यदि केवल जड़ प्रकृति वस्तु तत्त्व माना जाय तो इसमें न स्वयं गति करने की शक्ति हो सकती है और न प्रबन्ध की जो कि सृष्टि के प्रत्येक अंग में दृष्टिगोचर हो रहा है) इस आपत्ति के अतिरिक्त दूसरी आपत्ति यह होगी कि चैतन्य अर्थात् ज्ञान (Consciousness) को जड़ प्रकृति का कार्य मानना पड़ेगा। क्योंकि कार्य केवल कारण का दूसरा नामरूप हुआ करता है, इसलिये ही यह भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य में जो ज्ञान है वह

पहले उन वस्तुओंमें उपस्थित था जिनको खो खाकर मनुष्य का शरीर बना है अर्थात् समस्त प्रकृति चेतन थी, नहीं तो मनुष्य में ज्ञान कहाँ से आया। इसका परिणाम यही होगा कि ज्ञान सब वस्तुओं में एक रस और व्यापक मानना पड़ेगा क्योंकि ज्ञान ज्ञान में भेद नहीं हो सकता। यदि ज्ञान सर्वत्र व्यापक माना तो और सब वस्तुयें ज्ञान की विषय ही माननी पड़ेंगी । ज्ञान का विषय कोई वाह्य स्वतन्त्र स्वाधीन वस्तु नहीं हो सकती, केवल स्वप्न के पदार्थों की भांति ही होगी। स्वप्न देखनेवाले का ज्ञान स्वप्न के प्रपञ्च में सर्व व्यापक है और उसमें नाना प्रकार के पदार्थ उदय होते हैं और लुप्त होते हैं इसी प्रकार जाग्रत में भी एक ज्ञान ही सर्व व्यापक मानना पड़ेगा और सब पदार्थ उसमें उदय और लुप्त होंगे। इन युक्तियों से जड़द्वैत को जड़द्वैती बनना पड़ेगा।

इस प्रकार युक्ति द्वारा हमको जान पड़ता है कि एक ही वस्तु तत्त्व संसार में है और वह शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। एक ज्ञान का अनन्त समुद्र है जिसमें प्रपञ्चरूपी मौजें उठा करती हैं, इसी को वेदान्ती ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं। ब्रह्म शब्द का अर्थ सर्वव्यापक है। इसी को आत्मा कहते हैं, यही प्रत्येक वस्तु का सार तत्त्व है, इसके सिवाय कुछ नहीं है, यही सब में है और सब है।

ज्ञान ब्रह्म का गुण नहीं हो सकता, जो लोग जीव अथवा ईश्वर में ज्ञान को गुणरूप से मानते हैं वे ज्ञान के तत्त्व को नहीं समझते। यदि ज्ञान केवल गुण हो तो ईश्वर या जीव को जड़ मानना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान उनसे पृथक् पदार्थ ठहरेगा जो कि उनके स्वरूप का अंग नहीं है वरन् एक वाह्य गुण है । ज्ञान कोई उत्पन्न होने वाली और नाश होने वाली वस्तु नहीं है, बल्कि स्वयंसिद्ध, स्वयं प्रकाश, अविकारी और अविनाशी है। यदि आप कहें कि हमें अभी इस वस्तु का ज्ञान होता है, अभी उसका इसलिये ज्ञान में विकार तथा नाश की प्रतीति हो रही है । यहां ज्ञान में विकार अथवा नाश नहीं है वरन् ज्ञान के समुद्र में जो रूप

उदय होते हैं विकार और नाश उनमें होता है। ज्ञान तो सदा एक रस है। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और सदा एक रस है। इस ज्ञान की सूर्य की प्रभा में जो जो वस्तु आती है वह उसको प्रकाशता है, जब वह इस प्रभा से हट जाती है तो अज्ञान में लय हो जाती है।

शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में जो जगत् उदय होगा अवश्य ही इस ज्ञान के समुद्र में भ्रमरूप होगा क्योंकि ज्ञान में भेद और टुकड़े होना असम्भव है। ज्ञान में विकार कदापि नहीं हो सकता, ज्ञान बदल करके कुछ का कुछ नहीं हो सकता, हाँ यदि हो सकता है तो ज्ञान में भ्रम हो सकता है अर्थात् स्वरूपानुभव के स्थान में और दृश्यों का अनुभव होने लगे, जैसे स्वप्न में हम प्रतिदिन ही देखते हैं। वह अध्यास कहलाता है और इसी भ्रम का नाम माया है। माया और कुछ चीज नहीं है। इस माया की ब्रह्म से स्वाधीन सत्ता नहीं है। वही मनुष्य जाग्रत में है, वह स्वप्न में है, दोनों अवस्थाओं में उसके एकत्व में विकार नहीं होता। अतएव माया ब्रह्म ही की शक्ति है जो जगत् की रचना के समय प्रकट होती है। इसको दो दृष्टि केन्द्र से देख सकते हैं। एक तो यह द्रष्टा के स्वरूप को छिपाती है और दूसरे नाना प्रकार के रूप सामने लाती है। इन्हीं को माया की आवरण और विक्षेप-शक्तियाँ कहते हैं।

माया का दूसरा नाम अविद्या या अज्ञान है। यह अज्ञान ज्ञान के न होने का नाम नहीं है बल्कि भावरूप है अर्थात् व्यवहार अवस्था पर्यन्त और वस्तुओं की नाई एक वस्तु है, उसका अनुभव सबने किया है, गाढ़ निद्रा से सोकर उठते हैं तो कहते हैं क्या सुख की नींद सोये कि कुछ भी न जाना। यह "कुछ भी नहीं जाना" ही अज्ञान अविद्या और माया का स्वरूप है। इसके अन्धेरे में से ही प्रत्येक वस्तु क्षण-

भर के लिये निकलती हैं और चेतन आत्मा को दृश्य दिखाती है । अविद्या साक्षी-भास्य है । अर्थात् साक्षी या शुद्ध ज्ञान अविद्या जानी जाती है । “ कुछ भी नहीं जाना ” किसने ? शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मा या साक्षी ने, क्योंकि गाढी नींद की दशा में न इन्द्रियाँ काम करती हैं, न मन न बुद्धि । एक साक्षी ही की ज्योतिः जागृत है । साक्षी ही से सिद्ध होता है कि अविद्या कोई वस्तु है ।

माया अनादि है क्योंकि ईश्वर जीव इत्यादि माया के कारण नहीं हो सकते, उल्टे माया ही से उत्पन्न होते हैं और माया के कार्य हैं । (शुद्ध ब्रह्म, ज्ञानस्वरूप और निर्लेप और असंज्ञ होने के कारण, कार्य कारण दोनों भावों से परे है) इसी कारण माया को अवश्य ही अनादि मानना पड़ना है । माया तर्क की अवर्जनीय आवश्यकता है (Logical necessity) जो प्रत्येक दर्शन को किसी न किसी रूप माननी ही पड़ती है । (वेदान्त इसको स्पष्ट रूप से मान लेता है । इससे आगे कोई दर्शन नहीं जाता । यही सिद्धान्त मनुष्य की बुद्धि के लिये अन्तिमतम सिद्धान्त है ।)

प्रकाश स्वरूप चेतन में अज्ञान कैसे रह सकता है ? मायावादी इसके प्रत्युत्तर में यह सिद्ध करके दिखाते हैं कि प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्तपर यही आक्षेप लग सकता है । जिन बातों को और सिद्धान्त गोलमाल कर जाता है मायावाद उससमस्या को प्रकटरूप में सबसे आगे रखकर मानो यह कहता है कि इस कठिनाई से किसी भी सिद्धान्त का पिण्ड नहीं छूटता । उदाहरणार्थ कुछ बातों पर विचार कीजिये:-

भेदवादियों से हम यह पूछते हैं, जो कि ईश्वर को प्रकाश स्वरूप और जगत् को तमरूप मानते हैं कि प्रकाश स्वरूप ईश्वर में तमरूप जगत् कैसे रह सकता है ? प्रकृति को वह जड़ मानते हैं, जो जड़

होता है वह तमरूप भी होता है, वह प्रकृति उस व्यापक चेतन में उनके मत के अनुसार कैसे रहती है। फिर शुद्ध ईश्वर में वे इच्छादिक गुणों को मानते हैं—शुद्ध में वे इच्छादिक गुण कैसे रहते हैं। यदि रहेंगे तो उसकी शुद्धता न रहेगी और गुणों द्वारा जीव के साथ तुल्यता भी दी जायगी क्योंकि जीव भी इच्छादि गुणों वाला है तो फिर व्यापक प्रकाश-स्वरूप चेतन में अन्धकार रूपी रात्रि कैसे रहती है? कहो कि उस ईश्वर में प्रकृति और जगत् तथा रात्रि नहीं रहती है, तब ईश्वर व्यापक सिद्ध नहीं होगा और बात यह है कि भेदवादियों का आत्मा चेतन है। शुद्ध है। क्योंकि जो चेतन होता है वह शुद्ध भी होता है, तो जिस समय उममें एक वस्तु का ज्ञान रहता है उसमें उस समय और वस्तुओं का अज्ञान भी रहता है क्योंकि ब्रह्माण्ड के अंतरवर्त्ती करोड़ों पदार्थों का अज्ञान सदा ही उसमें रहता है। यह तो कहा नहीं जाता कि उसे सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान ही रहता है क्योंकि ऐसा कहने से तो जीव सर्वज्ञ होगा। वह है नहीं। इससे सिद्ध होता है कि आपके आत्मा में अनन्त पदार्थों का अज्ञान वर्त्तमान है। तो बतलाइये कि वह कैसे वर्त्तमान है? यदि कहो कि वह अज्ञान इस बाहर के तम की तरह नहीं है, इससे विलक्षण है। हमारा अज्ञान भी ऐसा ही है। जैसे तुम्हारा अज्ञान तुम्हारे चेतन में रहता है वैसे ही हमारा अज्ञान भी चेतन के आश्रित है। यदि कहो कि हमारी आत्मा शुद्ध नहीं है तो हम पूछते हैं कि तुम्हारी आत्मा को अशुद्ध किसने बना दिया? एक पदार्थ जो शुद्ध होता है दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध से अशुद्ध हो सकता है। जैसे शुद्ध जल मल या और किसी दूषित पदार्थ के सम्बन्ध से अशुद्ध हो सकता है क्योंकि दोनों पदार्थ सावयव हैं (Made of particles)। आत्मा निरवयव निराकार है उसके साथ दूसरे मल पदार्थ का सम्बन्ध किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। तब वह अशुद्ध कैसे हो गया? सावयव का निरावयव के साथ कोई संयोग या समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो

सकता क्योंकि संयोग सम्बन्ध सावयव पदार्थों का ही होता है । सावयव निरवयव का संयोग सम्बन्ध किसी प्रकार से भी नहीं होता । समवाय सम्बन्ध कार्य कारण का होता है । चेतन किसी भी जड़ कार्य का उपादान कारण नहीं है और जड़ चेतन का कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता । तब आपकी आत्मा कैसे अशुद्ध हो गई ? यदि कहो कि कर्मों के संस्कार उसमें रहते हैं इसी से वह अशुद्ध हो गया । यह भी ठीक नहीं है । बिना शरीर के केवल आत्मा कर्मकर्त्ता नहीं है, शरीर ही कर्त्ता है । शरीर के किये हुये कर्म आत्मा में लग भी नहीं सकते क्योंकि जो जिसका कर्म है वह उसी से लिप्त होता है । यदि कहो कि शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से शरीर द्वारा किये कर्म आत्मा में चले जाते हैं सो भी नहीं । क्योंकि शरीर के साथ संयोगादि सम्बन्ध निरवयव चेतन का असम्भव है । यदि कहो कल्पित सम्बन्ध है तब तो आपका मत ही जाता रहा । जैसे आप शरीर का आत्मा के साथ कल्पित सम्बन्ध मानते हैं । ऐसा ही कल्पित सम्बन्ध अज्ञान के साथ भी मानना पड़ेगा । यदि कहो आत्मा अशुद्ध नहीं है, भ्रांति से अपने को अशुद्ध मानता है तो उसी भ्रांति को हम अज्ञान मानते हैं । शुद्ध को भ्रांति कैसे हुई ? और उस भ्रांति का स्वरूप क्या है ? यदि कहो कि वह भ्रांति अनादि है और कुछ नहीं कहा जाता तो फिर उसको अज्ञान अनिर्वचनीय क्यों नहीं मान लेते ? यदि प्रकाश-स्वरूप आत्मा अज्ञान का विरोधी होता तो तब आत्मा में अनेक पदार्थों का अज्ञान और भ्रांति कैसे रहती ? परन्तु रहती है । इसी से सिद्ध होता है कि आत्मा अज्ञान का विरोधी नहीं है । क्योंकि समसत्तात्मक पदार्थ ही परस्पर विरोधी होते हैं । विषमसत्तात्मक नहीं । जैसे एक ही अधिकरण में व्यावहारिक समसत्ता वाले घट पट दो पदार्थ नहीं रह सकते । विषमसत्ता वाले दो पदार्थ एक जगह रह सकते हैं । जैसे व्यावहारिक शक्ति में प्रातिभासिक रजत रहता है । व्यावहारिक अन्तःकरण में स्वप्न के पदार्थ रह सकते हैं ।

वैसे ही पारमार्थिक सत्तावाले चेतन में प्रातिभासिक अथवा व्यावहारिक सत्तावाला अज्ञान रह सकता है क्योंकि चेतन अज्ञान का साधक है बाधक नहीं है। जैसे सामान्य अग्नि सब काष्ठों में रहती है परन्तु काष्ठ की विरोधिनी नहीं है तैसे ही सामान्य चेतन किसी का विरोधी नहीं है और जैसे कि विशेष अग्नि जो प्रज्वलित हो रही है, काष्ठ की विरोधिनी है वैसे ही वृत्ति प्रतिविम्बित जो विशेष चेतन है वही अज्ञान का विरोधी है। इस से सिद्ध होता है कि चेतन में अज्ञान रह सकता है। वह अज्ञान कल्पित ही है। केवल चेतन नित्य है क्योंकि अज्ञान तीनों काल में अस्त नहीं है (मुक्तावस्था में नहीं रहता) चेतन सदैव ही अपनी महिमा से एक रस ज्यों का त्यों बना रहता है।

(७)

मायावाद की हमारी समालोचना पूरी न होगी जब तक कि हम मायावाद की एक त्रुटि का कथन न कर लें—जो कि सब दर्शनज्ञ इसमें समझते हैं। मायावाद एक प्रश्न का जो कि परम प्रश्न है उत्तर नहीं देता। मायावाद यह नहीं बता सकता कि नित्य शुद्ध स्वयं प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म में यह माया-प्रपञ्च क्यों और कब उदय हो गया। साथ ही मायावाद यह भी कहता है कि इस प्रश्न का कोई उत्तर हो ही नहीं सकता। न आज तक किसी दर्शन ने इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर दिया है और न दे सकेगा क्योंकि यह प्रश्न ही अति प्रश्न (Illegitimate question) है। मायावादी अपनी शक्ति इस प्रश्न के सोचने में नहीं खोते, वे कान्ट (Kant) की नाई कहते हैं कि इस प्रश्न का उत्तर मनुष्य की बुद्धि से परे है क्यों कि यह प्रश्न भी माया ही के अन्तर्गत है। प्रश्न करने वाली बुद्धि भी माया का ही कार्य है। उदाहरणार्थ देखिये स्वप्न को अनुभव करने वाला स्कन्धजनित जीव क्या इस बात को बता सकता है कि वह स्वयं कब और क्यों और उसका स्वप्न जगत् जिसमें वह विचरता

है कब और क्यों उत्पन्न हुआ ? नहीं वह तो यही समझता है कि उसका संसार और वह अनादि ही हैं परन्तु वास्तव में स्वप्न जगत् तथा उसका द्रष्टा व्यावहारिक ज्ञाता के ज्ञान समुद्र की एक तरङ्ग-मात्र है। ठीक यही हाल हमारे जाग्रत् के व्यवहार का है। जब तक हम इस अवस्था में हैं तब तक इसके सत्यत्व को अनुभव कर रहे हैं। तब तक यह प्रपञ्च क्यों और कब उदय हुआ इसका उत्तर नहीं दे सकते। हां यह कह सकते हैं कि जागो तो न जीव है न जगत् है। नित्य शुद्ध ब्रह्म में तो वास्तव में न जीव था न जगत् सब प्रश्नों का उत्तर मिल गया क्योंकि फिर कोई प्रश्न ही नहीं रहता।

मायावादी भी यही कहते हैं। अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि क्या ऐसा सम्भव हो सकता है कि किसी समय हमको प्रपञ्च का अनुभव ही न हो केवल अपने शुद्ध ज्ञान ही में हमारी स्थिति हो। आज कल के दर्शन शास्त्र के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर समझना कुछ कठिन नहीं। अमेरिका का पण्डित जेम्स (James) जो प्रेगमेटिक मत का अनुयायी है अपने 'मनोविज्ञान के तत्व' (Principles of Psychology) नामक पुस्तक में प्रमाणित करता है कि प्रत्येक मनुष्य का जगत् निराला ही है। किसी के लिये कुछ सत्य प्रतीत होता है तो किसी के लिये वही भूठा। हम वैसा ही प्रपञ्च देखते हैं जैसी हमारी भावनायें, संस्कार, और इच्छायें होती हैं। जैसी हमारी आवश्यकतायें हैं वैसा ही बाह्य जगत् भी प्रतीत होता है। तो क्या सम्भव नहीं है कि जिस मनुष्य के 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता' और जिस मनुष्य को विकारवान्, नाशवान् तथा परिमित वस्तुओं से अथवा संसार से कोई भी घनिष्ठ संबंध नहीं रहा है अर्थात् जो पूर्ण वैरागी हो गया है उसके अनुभव में यह प्रपञ्च न आये। हमारी समझ में तो यह (Pragmatic) प्रेगमेटिक तत्वों के विचार से सम्भव ही मालूम पड़ता है।

अब हम अपनी समालोचना को यहाँ पर समाप्त करते हैं, कभी अवकाश मिला तो यह भी सिद्ध करके दिखलायेंगे कि योरोपीय दर्शन का अध्ययन करके हम इसी सिद्धांत पर पहुँचते हैं :—

‘ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मन्नापरः’

AVAILABLE WORKS OF Dr. B. L. Atreya

1. The Philosophy of Yogavasistha. 2nd Edition [Under Print]
2. Yogavasistha and Modern Thought Rs. 3.75
3. Yogavasistha and Its Philosophy, 4th edition [under print]
4. Elements of Indian Logic Rs. 3.00
5. An Introduction to Parapsychology Rs. 6.00
6. Moral and Spiritual Foundations of Peace Rs. 2.00
7. The Spirit of Indian Culture Rs. 2.00
8. The Malady of the Age Re. 1.00
9. Practical Vedanta of Swami Rama Tirtha Re. 0.50
10. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धांत Rs. 10.00

Published by— Dr. B. L. Atreya

Printed at— Darshana Printers, Moradabad. (Telephone 370)



